सचित्र

जगमगाते हीरे

(प्रथम भाग)

लेखक

पं० विद्याभास्कर शुक्ल
साहित्यालङ्कार

प्रकाशक

छात्र-हितकारी-पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग।

प्रथमावृत्ति १०००

दिसम्बर १९२८

मूल्य १)
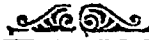
दो शब्द

हिन्दी-संसार में इस समय पुस्तकों की कमी नहीं। उपन्यास, कहानी आदि की नित्य नई नई पुस्तकें देखने में आती हैं। हम कैसे कहें कि देश की उन्नति तथा प्रगति को उनसे कुछ सहारा न मिलता होगा, परन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि किसी देश के उत्थान में उस देश के महापुरुषों के चरित्र जितने सहायक होते हैं उतने अन्य ग्रंथ नहीं। हमारे जीवन में नित्य ही छोटी २ ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिनपर ध्यान देना तो दूर हम कभी विचार भी नहीं करते। किन्तु वे ही छोटी २ घटनाएँ किन्हीं को महापुरुष के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। उन मनोरञ्जक और जीवन-पथ-प्रदर्शक घटनाओं और महापुरुषों के चरित्रों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। फिर ऐसे समय में जब संसार के साथ भारतवर्ष भी स्वतंत्रता की ओर तेज़ी से दौड़ रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के विचार से यह पुस्तक लिखी गई है। अब इसकी सफलता, असफलता पाठकों के हाथ है।

लेखक

क्रम-सूची

जगमगाते हीरे

१—श्री राजा राममोहन राय

जब इस पृथ्वी पर किसी प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हे पूरी करने के लिए किसी शक्ति का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। संसार की सभी बातों मे इस अटूट नियम का प्रयोग होते देखा गया है। मानव समाज मे आवश्यकतानुसार धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति करने के ही लिए महापुरुषों का जन्म होता है। राजा राममोहन राय का जन्म भी इस भारत भूमि में इसीलिए हुआ।

राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ ई० मे हुगली जिले के पास एक गांव मे हुआ था। उन के पिता का नाम राय रमाकान्त और माता का नाम तारिणी देवी था। 'राय' की उपाधि उनके खानदान में नवाबी राज्य से चली आती थी। उनकी माता बड़ी ही बुद्धिमती, सुशीला, और धर्मानुरागिणी स्त्री थीं उसी के अनुसार बचपन से ही उन्हे भी अपने धर्म मे बड़ी श्रद्धा थी, अपने गृह देवता के वे बड़े भक्त थे। बुद्धि तो ऐसी तीव्र थी कि जब पाठशाला मे पढ़ने बैठाए गए तो लोगो को आश्चर्य होता था। फ़ारसी की शिक्षा पिता ने घर पर ही दी। नौ वर्ष

की अवस्था मे पटना भेज दिया। वहाँ रह कर उन्होंने फ़ारसी, अरबी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। रेखागणित का खूब अध्ययन किया। फ़ारसी के प्रसिद्ध कवियों के काव्य-ग्रन्थों से उन्हे विशेष अनुराग था जो यावज्जीवन रहा।

इस शिक्षा के पश्चात् बालक राममोहन संस्कृत पढ़ने के लिए काशी भेजे गए। १२-१३ वर्ष की ही आयु मे ही उन्होंने वहाँ संस्कृत में भी बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वहां से आकर घर पर ही रहने लगे और धर्म सम्बन्धी बातों के विचार मे समय बिताने लगे। शनैः २ प्रचलित धर्म से उनका विश्वास निर्बल होने लगा। यह देख कर उनके पिता को मत-भेद होने के साथ ही दुख भी हुआ। इसी समय राममोहन ने 'हिन्दुओं की पौत्तलिक धर्म-प्रणाली' नामक पुस्तक लिखी जिस से पिता इतने क्रुद्ध हो गए कि उन्हे घर से निकाल दिया।

अब तो निडर राममोहन भारत के भिन्न २ स्थानों मे भ्रमण करने लगे। जहाँ जाते वहीं की भाषा सीख कर वहाँ के धर्म ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करते। इस प्रकार घूमते घामते वे १६ वर्ष की उम्र में हिमालय पार कर तिब्बत पहुँचे। वहाँ के लामाओ की अवतारवाद की पराकाष्ठा की अद्भुत प्रथा देख कर उन्हे बड़ा बुरा मालूम हुआ। बस, उन्होंने अकुतो-भयता के साथ ज़ोरों से इसका प्रतिवाद किया। लामा उनसे इतने क्रुद्ध हो गए कि मृत्यु-दण्ड देने का प्रयत्न करने लगे। पर वहाँ की स्त्रियो ने उस समय उन का साथ दिया और बराबर साथ रह कर उनकी रक्षा की। उनका तो कहना है कि भारत मे विदेशी राज्य, धर्म का प्रचार होने के कारण मैं तिब्बत चला गया, पर दूसरे लोग कहते है कि बौद्ध ग्रन्थों का अनुसन्धान ने के लिए वे वहां गए।

राय रमाकान्त ने पुत्र को घर से निकाल तो दिया पर पीछे उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ, दिन रात दुःखी रहने लगे। लोगों को इधर उधर पुत्र की तलाश में भेजा। देश विदेश मे भ्रमण कर राममोहन चार वर्ष बाद पिता के भेजे हुए एक आदमी के साथ घर आए। पुत्र के घर आजाने से सब को बड़ा आनन्द हुआ।

घर मे रहते हुए धार्मिक विषयों मे पिता के साथ प्रायः राम मोहन का वादविवाद हुआ करता था। वे अपना तमाम समय धार्मिक पुस्तकों के अवलोकन मे ही बिताते थे और इस विषय में उन्होंने गहरी छान-बीन करके निश्चय कर लिया था कि हिन्दू धर्म के कुसंस्कार और कुप्रथाओ को नष्ट करना होगा। वे अपने अध्ययन में इतने दृढ़-प्रतिज्ञ थे कि एक बार संस्कृत बाल्मीकीय रामायण पढ़ने बैठ गए, सब से कह दिया—"जब तक मैं पाठ पूरा न कर लूँ कोई विघ्न न करे"। प्रातःकाल से बैठे शाम हो गई पर अन्न जल ग्रहण तभी किया जब सातों काण्ड पाठ पूरा कर लिया।

उस समय सती-प्रथा प्रचलित थी। बंगाल में इसका रिवाज ज़ोरों से था। पति के मरने पर जीवित स्त्री पति के साथ चिता में जला दी जाती थी। यह दृश्य कितने ही निष्ठुर हृदय देखते होंगे। धू धू करते हुए चितानल मे असहाय अबला झोंक दी जावे, उठ कर भागने का प्रयत्न करे तो सम्बन्धी लोग बाँसों से कस कर उसे दबाए रहे। ढोल बाजे नगाड़े आदि इसलिए बजाए जावें कि उसका आर्त्तनाद दूसरों के कानों में प्रवेश न कर सके। हमारे चरित नायक से यह भयङ्कर दृश्य न देखा गया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि "मै यावज्जीवन इस वीभत्स प्रथा को निर्मूल करने का प्रयत्न करूँगा"।

आवश्यक समझ कर २२ वर्ष की आयु में उन्होंने अंग्रेज़ी

पढ़ना प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में उसमें भी अच्छी योग्यता प्राप्त करली।

इसके पश्चात् वे सरकारी मुहर्रिरी करने लगे। नौकरी करने से पूर्व उन्होंने कलेक्टर से लिखित प्रतिज्ञा कराली कि जब मैं किसी कार्य से आपके सामने आऊं तो आप मुझे बैठने को आसन दें। अपने कार्यों से उन्होंने अफसरों को ऐसा सन्तुष्ट किया कि कुछ ही समय पश्चात् वे सरिश्तेदार बना दिए गए। उन्होने तेरह वर्ष नौकरी की। पर मन न लगा। जिसका ध्यान धार्मिक कुप्रथाओं के नष्ट करने मे लगा हुआ है वह गुलामी कहां तक कर सकता है। अस्तु, नौकरी छोड़ दी। धार्मिक सुधार का कार्य प्रारम्भ कर दिया। बाह्य पाखण्डी अपना भण्डा फोड़ होते देख उन के कार्य मे तरह २ के रोड़े अटकाने लगे, और वृथा कष्ट देने लगे परन्तु राय के असाधारण धैर्य ने किसी प्रकार हार न मानी। उन्होंने इस असद्भाव का बदला सद्भाव के द्वारा लेने का निश्चय किया, और जी जान से धर्म-संस्कार, समाज-संस्कार, राजनैतिक संस्कार और साहित्य की उन्नति मे जुट गए। जहाँ बहुत से लोग उन के दुश्मन हो गए वहाँ उन के असाधारण गुणों, स्पष्ट सत्यवादिता, निर्भीकता आदि से आकृष्ट हो कर कितने ही विद्वान और सत्यान्वेषी सज्जन मित्र और शिष्य भी हो गए। उन की सुशीलता, नम्रता और विद्वत्ता देख कर प्रेम करने को मनुष्य बाध्य हो जाते थे।

राजा राममोहन राय ने विचारा कि पुस्तकों द्वारा सत्य का प्रचार भली भाँति हो सकता है। बस "वेदान्त सूत्र" का भाष्य बङ्गला, हिन्दी, अंगरेज़ी में प्रकाशित किया और उस में पुष्टि के साथ इस बात का प्रतिपादन किया कि समस्त हिन्दू शास्त्र एक मात्र परब्रह्म की उपासना बतलाते हैं, प्रचलित प्रथाओ से उन मे बड़ा अन्तर है। इसके बाद क्रमशः वेदान्त सार, उपनिषदों के भाष्य,

ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थेर लक्षण, गायत्री अर्थ, अनुष्ठान, ब्रह्मोपासना, प्रार्थना पत्र आदि अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं ; जिन में प्रचलित हिन्दू धर्म की अनिष्ट-कारिणी रूढ़ियों की लम्बी खवर ली और उन लोगों के सिद्धान्त का खण्डन किया जो निराकार ईश्वर की उपासना सन्यासियों के लिए और देवी-देवताओं की उपासना गृहस्थों के लिए वतलाते हैं। अकाट्य प्रमाणों और युक्तियों द्वारा अपनी पुस्तकों में केवल एक ब्रह्मोपासना सिद्ध की।

उनके इस प्रकार के आन्दोलन से हिन्दू समाज में वड़ी हल-चल मच गई। शास्त्रार्थ के लिए हिन्दू पण्डितों ने वड़ी २ पुस्तकें लिखीं। जिनका उत्तर राजा राममोहन ने वड़ी युक्ति, सहन-शीलता और प्रमाणों के साथ छपवाया। प्रतिवादी निरुत्तर हो गए। वहुतों ने चिढ़कर कई ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करवाई जिन में तथ्य वातें तो कम, कटु वाक्य और निंदा ही विशेष रूप से थी, पर हमारे चरित-नायक ने अपूर्व शांति भाव से क्रमशः सव को निरुत्तर और पराजित किया।

राजा राम मोहन राय ने दूसरे धर्म्मों का खूव अध्ययन किया था। जव उन्हों ने देखा कि ईसाई लोग छोटे २ ट्रैक्टों, दूसरे धर्म्मों की निन्दा, और ग़रीवों को धन के लालच आदि अनुचित कार्रवाइयों से अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं, तो ईसाई धर्म की पोल खोलनी शुरू की। वाइविल का खूव अध्ययन किया और उनके समाचार पत्रों में निकले हुए संवादों, ट्रैक्टो का मुंह-तोड़ उत्तर देना प्रारम्भ किया, कड़ी आलोचना की। हिन्दुओं की दुर्वलता के विषय में लिखा कि " एक तो हम संसार में पराधीन विख्यात हैं, दूसरा कारण जाति भेद और तीसरा कारण है हिन्दू-जाति की स्वाभाविक धीरता, कोमलता और अहिंसा-वृत्ति। हिंसा विमुखता

ही हिन्दुओ के राजनैतिक दुर्भाग्य का प्रधान कारण है। जिससे हम दूसरों से शासित हैं"।

उन्हो ने सब को एक धर्म और एक ब्रह्म की उपसना मे लाने के लिए एक 'आत्मीय सभा' स्थापित की। इस में वेद पाठ और ब्रह्म संगीत द्वारा ब्रह्मोपासना होतो थी। इसके पश्चात् 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसका उद्देश्य था—कोई भी व्यक्ति शुद्ध श्रद्धा भाव से इस समाज-मन्दिर में उपासना के लिए आ सकता है; जाति, सम्प्रदाय, धर्म, पद इत्यादि का कुछ विचार न होगा। चाहे जिस धर्म या सम्प्रदाय का मनुष्य क्यों न हो, परमेश्वर की उपासना के लिए यहाँ सब को समान अधिकार है। ब्रह्म समाज कुछ समय खूब फूला फला।

राजा राममोहन राय और उनके साथियों के अनवरत परिश्रम और सच्ची लगन से ब्रह्म ज्ञान का प्रचार उत्तरोत्तर वढ़ने लगा, कितने ही लोग आकर 'ब्रह्म समाज' मे दीक्षित हुए।

सती प्रथा के प्रबल विरोध में राय ने पहले शास्त्रो और, वैदिक ग्रन्थों का भली भांति अध्ययन तथा मनन किया; इधर उधर खूब शङ्काएँ निवृत्त कीं। इसके बाद उसे समूल नष्ट करने के लिए वे कटि-वद्ध हो गए। पुस्तकें लिख कर, शास्त्रार्थों व्याख्यानों आदि के द्वारा प्रवल आंदोलन खड़ा कर दिया और सरकार से कड़े नियम बनवा कर सदैव के लिए इस अमानुषीय प्रथा का अन्त कर दिया। स्त्रियो से उन्हे हार्दिक सहानुभूति थी। उनकी दशा सुधारने के लिए उन्होने अनेक प्रयत्न किए। लोग कहते हैं कि आध्यात्मिक और राजनैतिक विचारों मे परस्पर विरोध है पर राजा राममोहन राय के राजनैतिक विचार भी बहुत उच्च थे। वाल्यकाल ही से उन मे प्रबलता आगई थी। जहाँ कोई बात आपड़ती, वे दुखित किसानो की दर्दनाक कहानियों का दृश्य

सामने खींचते हुए सरकार की कड़ी आलोचना करते थे। स्पष्ट और सत्य बात कहने मे ज़रा भी न हिचकते थे। साथ ही उन्होंने इस बात का भी भरपूर प्रयत्न किया कि भारतवर्ष मे अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्त्य ज्ञान का प्रचार किया जावे ताकि भारतीय शिक्षित और सम्पन्न हो। विलायत यात्रा मे वे इङ्गलैण्ड, फ्रान्स आदि देशो को गए, वहाँ अपनी अपूर्व प्रतिभा और पाण्डित्य से योरोप निवासियों पर अच्छी धाक जमा ली। सब जगह उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। अन्त में अपने शान्तिमय जीवन में धर्मोपदेश करते हुए वहां के त्रिस्टल नगर में सन् १८३३ ई० में १०-११ दिन बीमार रह कर वे स्वर्ग सिधारे।

राजा राममोहन राय का मस्तिष्क बहुत बड़ा और मेधा-शक्ति बड़ी प्रबल थी। शरीर कान्तिमान और सुन्दर था। शारीरिक बल साधारण लोगो से कहीं अधिक देखा जाता था। एक २ दिन में वे १२-१२ सेर दूध पी जाते थे और उसके ऊपर भोजन भी करते थे।

उनके जीवन की अनेक घटनाएँ उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमानी,, दया, उदारता, वाक्चातुरी, शारीरिक बल, निर्भीकता आदि गुणों का परिचय देती है।

एक दिन एक पण्डित ने आकर उनसे कहा, "मै आप के साथ तन्त्र शास्त्र विषय में अमुक ग्रन्थ पर विचार करना चाहता हूँ"। राय ने वह ग्रन्थ देखा तक न था "बहुत अच्छा" कहते हुए कहा "कृपा कर कल आइए"। पण्डित जी के जाते ही उन्होंने वह ग्रन्थ तुरन्त मंगवाया और दत्तचित्त होकर उसे एकबार ही पढ़ कर हृदयङ्गम कर लिया। दूसरे दिन जब पण्डित जी आए तो ज़ोरों से शास्त्रार्थ हुआ। अन्त मे राममोहन के पांडित्य तथा तर्क-शक्ति से परास्त हो कर पंडित जी अपने घर चले गए।

एक बार राजा राममोहन राय के पास दक्षिण से वहाँ की भाषा में ही एक पत्र आया जिसे उन्हें दूसरे आदमी से पढ़वाना पड़ा। साथ ही यह इच्छा हुई कि इस भाषा को तो सीखना चाहिए। बस तीन ही महीने में उस भाषा को सीख कर उसके पत्र का उत्तर उसी भाषा में दिया।

हम लोग छोटे बालको को गोद में लेने और उनके साथ खेलने में हिचकते हैं तथा भद्दा समझते हैं। पर राजा राममोहन राय में यह बात न थी। वे छोटे बालकों से अतिशय प्रेम करते थे और प्रायः उनके साथ खेला करते थे। प्रेम के कारण बालक अक्सर उनके घर जाया करते थे। वे उनके साथ बहुत हिलमिल कर खेला करते और उनके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रगट करते थे। लड़के उनके घर नित्य आया करें; इसके लिए उन्होंने अपने घर में एक झूला डाल रक्खा था। लड़के इस झूले में झूलते थे; राजा राममोहन राय उन्हे झुलाते थे। कुछ देर पश्चात् "अब मेरी बारी है" कह कर आप उसमें बैठ जाते थे और लड़के उन्हे झुलाया करते थे। एक दिन राय इसी प्रकार झूल रहे थे कि एक प्रसिद्ध पण्डित मिलने आ गए और यह दृश्य देख कर बोले "वाह, महाशय जी, आप यह क्या कर रहे हैं?" राय ने तुरन्त उत्तर दिया "मैं विलायत जाना चाहता हूँ। सुना है समुद्र में तूफान आने पर जहाज़ बहुत हिलने लगता है जिससे यात्रियों को घुमनी का रोग हो जाता है, यात्री बेचैन हो जाते हैं। इस प्रकार झूलने का अभ्यास कर लेने से उस घुमनी की संभावना जाती रहेगी।"

राजा राममोहन राय को ग़रीबों का बड़ा ख़्याल था। निर्धनों का कष्ट वे देख नहीं सकते थे। राय के गाँव में ही बाज़ार लगता था। लोग अनाज इत्यादि बेंचने को लाते थे।

राय साहब के ज्येष्ठ पुत्र ने दूकानदारों से चुंगी लेना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि सभी बाजारों में चुंगी ली जाती थी फिर भी निर्धन दूकानदारों को चुंगी देना कष्टकर प्रतीत होने लगा। उन लोगों ने पुत्र से प्रार्थना की कि चुंगी न ली जावे पर उन्होंने कुछ ध्यान न दिया। एक दिन लाचार हो कर वे सब राजा राम-मोहन के पास पहुँचे, बोले—"राजा साहब, हम निर्धन आदमी हैं किसी तरह अपनी गुज़र बसर करते हैं, चाहते हैं, हमसे चुंगी न ली जाया करे।" राजा साहब ने अपने दोनों हाथ सिर पर पटक कर कहा—"हे भगवान! ये बेचारे दुखी आदमी साधारण चीज़ें बेंच कर किसी तरह अपनी गुज़र चलाते हैं। इनके ऊपर भी यह अत्याचार! रक्षा करो, रक्षा करो।" उनके पुत्र यह हाल देख कर बहुत लज्जित हुए और उसी दिन से चुंगी उठा दी।

राजा राममोहन राय विपत्ति पड़ने पर भी कभी अधीर न होते थे। एकबार उनके कुछ मित्रों ने सोचा कि ये बड़े ब्रह्मज्ञानी बनते हैं, देखें दुःख में बेचैन होते हैं या नहीं। राय का पुत्र दूसरे नगर में रहता था। उस समय डाकख़ाने न थे। हरकारा पत्र ले जाता था। इन लोगो ने एक हरकारे को सिखा पढ़ा कर एक जाली पत्र दे कर राजा राममोहन को दे आने को कहा जिस मे पुत्र की मृत्यु का समाचार था। ये लोग पहले से ही उनके पास जा बैठे। हरकारे ने आकर पत्र दिया। पत्र पढ़ते ही राममोहन का मुख मंडल उदास हो गया। ३-४ मिनट तक वे चुपचाप बैठे रहे फिर बिना किसी से कुछ कहे सुने अपने कार्य में लग गए मानो कोई समाचार ही नहीं मिला। यह दृश्य देख कर वे लोग अवाक् रह गए, बहुत लज्जित हुए और अन्त में उनके पैरो पड़ कर सच्चा हाल सुनाते हुए क्षमा प्रार्थना की।

एक ग़रीब महाशय नित्य प्रति राजा राममोहन के पास धर्मो-

पदेश सुनने के लिए आया करते थे। वे थे बहुत निर्धन। कपड़े बहुत मैले हो गए थे और फट से गए थे। नए कपड़े बनवाने से असमर्थ थे। धर्मोपदेश सुनने की इच्छा रहते हुए भी राय की उच्चता और अपना दरिद्र वेश देख कर उन्होंने वहां जाना बन्द कर दिया। जब वे कुछ दिन न गए तो राजा राममोहन राय को मालूम हुआ कि अमुक महाशय ने आना क्यो बन्द कर दिया। उन्होंने उसी समय उन्हे बुलाया और बड़े आदर से अपने पास बैठा कर कहा—"आप यह अच्छी तरह समझ लें कि मैं कभी कपड़े या रूप रङ्ग देख कर आदमी को नहीं पहचाना करता हूँ। निस्संकोच आप रोज़ आया करें।"

राजा राममोहन राय ने नियम बना रक्खा था कि प्रार्थना के समय समाज मे सब लोग चपकन और पगड़ी पहन कर आया करें। इसी प्रकार सब लोग आया भी करते थे। एक दिन प्रसिद्ध स्वर्गीय द्वारिका नाथ जज दफ़्तर से लौटे तो देर हो जाने के कारण दफ़्तर के ही कपड़े पहने समाज में चले गए और प्रार्थना मे सम्मिलित हुए। यह देख कर राजा राममोहन राय को बड़ा दुःख हुआ। वे संकोच शील व्यक्ति थे इसलिए ख़ुद उन से कुछ न कह कर एक और मित्र से कहा—"आप भाई द्वारिका नाथ को समझा दें कि समाज का नियम क्या है।"

एकदिन राजा राममोहन राय बाज़ार में घूमने जा रहे थे। थोड़ी दूर जाने पर उन्हो ने दूर से देखा कि कोई तरकारी वाला ज़मीन से बोझ उठा कर बार २ अपने सिर पर रखने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु बोझा भारी होने के कारण वह उसे नहीं उठा पाता। राममोहन जी तुरन्त उसके पास पहुँचे और उसका बोझ उठा कर उसके सिर पर रख दिया।

जगमगाते हीरे—
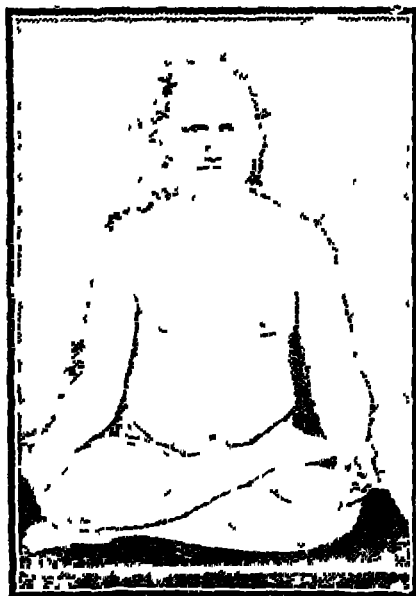
महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

२—महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

संसार के जितने महा पुरुष हुए हैं उन्हीं में बाल-ब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द सरस्वती की भी गणना है। यदि उस समय स्वामी जी का जन्म न हुआ होता तो आज भारतवर्ष की क्या दशा होती, यह बतलाना मुश्किल है।

ऋषि दयानन्द का जन्म सन् १८२४ ई० में गुजरात प्रान्त के मोरवी नामक ग्राम में हुआ था। आदि नाम था मूलशंकर, उनके पिता अम्बाशंकर औदीच्य ब्राह्मण और एक प्रतिष्ठित जमींदार थे। आज कल की भाँति उस समय अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार न था। स्कूल कालेज न थे। सामयिक प्रथा के अनुसार स्वामी जी को बाल्यावस्था में रुद्री और शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन कराया गया। स्वामी जी की बुद्धि कुशाग्र थी; जो पढ़ाया जाता, शीघ्र ही याद कर लेते। १२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने संस्कृत की छोटी मोटी पुस्तकें, अमर कोष आदि याद करके संस्कृत की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थो।

उनके पिता कट्टर शैव-भक्त थे। उसी के अनुसार उन्हे भी शिक्षा दी गई। जिससे धर्म-निष्ठा में ये अपने पिता माता के ही तुल्य थे। चौदह वर्ष की अवस्था में माता के मना करने पर भी पिता ने बालक मूलशंकर को शिवरात्रि का निर्जल व्रत कराया। चूँकि मूलशंकर की निष्ठा सच्ची थी इससे बड़ी सावधानी से व्रत की साधना की; रात्रि को जागरण किया। शिवालय में पिता तथा अन्य पुजारी आदि सो गए पर मूलशंकर

आँखों में पानी लगा लगाकर जागते रहे कि कहीं व्रत भङ्ग न हो जावे। अर्ध रात्रि में जब सब खर्राटे भर रहे थे तो एक चूहा आकर शिव जी पर चढ़े प्रसाद को खाने लगा और उन पर खूब कूदने फाँदने लगा। मूलशंकर यह सब दृश्य बड़े आश्चर्य के साथ देख रहे थे। चूहे के चले जाते ही उनके चित्त में विचार उठा—"क्या यही सर्व-शक्ति मान, विश्वम्भर महादेव हैं जो अपने ऊपर से उपद्रवी चूहे को भी नहीं भगा सकते। वेद शास्त्रों मे इन्हीं की बड़ी महिमा गाई है ?" इत्यादि।

इस विचार के उत्पन्न होते ही उन्हो ने अपने पिता को जगाया और सब हाल सुनाते हुए शंकित प्रश्न किया। पिता ने डॉटने फाटकारने के अतिरिक्त कोई सन्तोष-जनक उत्तर न दिया और सो गए। मूलशंकर ने उसी समय घर जाकर माता को जगाया और भोजन किया। उनके चित्त से मूर्तिपूजा की ओर से श्रद्धा हट गई। उन्होंने निश्चय किया—जब तक शिव जी के प्रत्यक्ष दर्शन न कर लूँगा, कोई व्रत नियम न करूँगा।

२० वर्ष को उम्र मे स्वामी जी के चाचा की मृत्यु से उनके हृदय को बहुत चोट लगी। वैराग्य उत्पन्न हो गया। कोई जानकार पुरुष मिलता ता उससे यही प्रश्न करते—"मनुष्य अमर किस तरह हो सकता है ?" उत्तर मिलता—"योगाभ्यास से"। इस उत्तर से स्वामी जी को योगाभ्यास की शिक्षा प्राप्त करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने योगी की खोज के लिए पर्यटन करना निश्चय करते हुए पिता की आज्ञा चाही। पिता क्यों आज्ञा देने लगे। वे उन्हें फॉसने के विचार से विवाह की युक्ति भिड़ाने लगे। स्वामी जी यह देख कर घर से भाग खड़े हुये और साधुओं का इधर उधर संग करने लगे लेकिन यथार्थ साधु न मिलने से चित्त को सन्तोष न हुआ। स्वामी जी की श्रद्धा इस प्रकार के साधुओं से हटने सी

लगी। इसी समय उनके पिता ने उन्हें आ पकड़ा और सिपाहियों के पहरे में घर ले चले। रास्ते में रात को जब सब सिपाही आदि सो गये तो स्वामी जी फिर भाग निकले।

दूसरे दिन, दिन भर भूखे प्यासे एक पेड़ पर बैठे रहे कि घर वाले न पकड़ पावें। रात में आगे बढ़े और अलकनन्दा के किनारे जाकर विश्राम लिया। इस ओर उन्हे अनेक साधुओं के दर्शन हुए और उन्हों ने इन्हे अच्छी २ योग की क्रियाएं बतलाईं। अलकनन्दा के तट पर पहुँच कर पहिले तो स्वामी जी ने सोचा कि इसी बरफ में गल कर प्राण विसर्जित कर दें और संसार के झंझटो से पार हो जावें। फिर सोचा—आत्म-हत्या तो महा-पाप है, ऐसा क्यों करें। विद्याध्ययन करके ही इस जीवन को सफल क्यों न करें। यह निश्चय करके स्वामी जी घूमते फिरते मथुरा आए। मथुरा आने से पूर्व ही मूलशंकर ने संन्यास ले लिया था और मूलशंकर से स्वामी दयानन्द हो गए थे।

मथुरा में एक ८१ वर्ष के बूढ़े धुरन्धर विद्वान् साधु रहते थे, जिनका नाम था दण्डी विरजानन्द। विरजानन्द सरस्वती प्रज्ञा-चक्षु थे। अपने समय के संस्कृत और व्याकरण के अद्वितीय पंडित थे। साथ ही स्वभाव के बड़े तीखे और रूखे थे। ऋषि दयानन्द उनके पास ललाट पर भस्म लगाए, माला धारण किए, गेरुआ वस्त्र पहिने, कमण्डलु लिए पहुँचे। स्वामी विरजानन्द उनकी बातचीत से प्रसन्न हो गए और २॥ वर्ष मे ही अपनी विद्या उन्हे दे दी।

स्वामी दयानन्द ने विद्या समाप्त कर सोचा—"गुरू जी को क्या गुरु दक्षिणा दूँ? मैं साधु हूँ मेरे पास है ही क्या, यह भी विरक्त साधु हैं, लेंगे क्या? इन्हें लौंग ज्यादा प्रिय हैं वही क्यो न दूँ?" यह विचार कर स्वामी जी

सवा सेर लौंगें और नारियल लेकर दण्डी विरजानन्द के पास पहुँचे। बोले—"महाराज गुरु दक्षिणा लीजिए और आशीर्वाद दीजिए।" दण्डी जी बोले—"बच्चा, क्या गुरु दक्षिणा है।" स्वामी जी—"महाराज, मैं आपको क्या देने योग्य हूँ। लौंग नारियल है।" गुरू जी—"मुझे यह गुरु दक्षिणा नहीं चाहिए।" स्वामी जी—"महाराज, मेरे पास और क्या है जो मैं आपको दूँ।" गुरू जी—"बच्चा, मैं तुझ से वही चीज़ माँगना चाहता हूं जो तेरे पास है, तू दे सकता है, बोल, देगा?" स्वामी जी—"यह शरीर ही आपका है फिर जो चीज़ मेरे पास होगी उसे देने से इन्कार कब है?" दंडी गुरू विरजानन्द ने प्रसन्न होकर कहा—"जा, बेटा! इस देश मे जो अविद्या अंधकार फैला है, जो ढोंग पाखण्ड फैला है उसे विद्या रूपी प्रकाश से मिटा। पढ़ा लिखा सार्थक कर, यही माँगता हूं। और कुछ नही चाहिए।" स्वामी जी ने चरणों पर सिर रक्खा। बोले—"महाराज, जो आज्ञा, ऐसा ही करूँगा। आशीर्वाद दीजिए।"

उन्हीं दिनों हरिद्वार कुम्भ का मेला था। स्वामी जी आगरा, ग्वालियर, जैपुर, मेरठ आदि घूमते हुए हरिद्वार पहुँचे। अपार नर नारियों की भीड़ थी। जगह जगह ढोंग पुज रहा था। यह दृश्य देख कर स्वामी जी के नेत्रों मे आँसू आ गए वे सोचने लगे—"गुरु-आज्ञा का पालन मैं कैसे करूँगा।" हिम्मत हार रहे थे। रात्रि मे स्वप्न हुआ, मानो कोई कह रहा है—"पुत्र, कायरता दूर कर, हिम्मत कर, सब कुछ कर सकेगा। क्या अकेला सूर्य फैले हुए संसार के अंधकार को नष्ट नहीं कर देता?" स्वामी जी प्रातःकाल उठे। मुख पर अपूर्व छटा थी; औदास्य भाव नष्ट हो चुका था। एक जगह जम गए। एक

पताका गाड़ दी, जिस पर लिख दिया गया "पाखंड-खंडिनी पताका।" स्वामी जी ने व्याख्यान देना शुरू कर दिया। कई व्याख्यान दिए।

कुछ हलचल मच गई। मेला समाप्त होते ही स्वामी जी कुछ दिन एकान्त सेवन के लिए चले गए। एकान्त सेवन के वाद प्रचार-कार्य में प्रवृत्त हुए। प्रत्येक शहर में घूम घूमकर व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की धूम मचा दी। घूमते घूमते स्वामी जी काशी पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने हलचल पैदा कर दी। सनातन धर्म की जिन रूढ़ियों को वे पाखंड समझते थे उनका खंडन करना शुरू कर दिया। काशी-वासी पंडित वहुत क्रुद्ध हुए। निश्चय हुआ कि शास्त्रार्थ हो। शास्त्रार्थ का दिन निश्चित हुआ। निश्चित दिन पर खूब भीड़ एकत्रित हुई। नामी नामी सव पंडित जमा हुए, स्वतः काशी-महाराज भी पधारे। दोपहर पश्चात् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। उतनी वड़ी सहस्रो मनुष्यों की भीड़ मे उस (चिरस्मरणीय) दिन को निर्भय दयानन्द अकेले पंडितों के प्रश्नों का उत्तर देते जाते थे। विषय था "वेदों में मूर्त्ति पूजा है या नहीं?" स्वामी जी का कहना था कि वेदो मे मूर्त्ति पूजा नही है। स्वामी विशुद्धानन्द सरीखे दिग्गज विद्वान् उपस्थित थे पर उन लोगो ने जब देखा कि अव हम हारे तो और साथी लोग हू हल्ला शोर गुल कर के उठ खड़े हुए और चल दिए। एक वार स्वामी जी ने काशी मे लगातार वाईस व्याख्यान दिए।

इसी प्रकार स्वामी जी जहाँ जहाँ जाते, व्याख्यान देते और शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज कर देते। जहाँ शास्त्रार्थ होता वहाँ उनके विपक्षियों को हारना पड़ता। कलकत्ते, वंवई मे उनके कितने ही व्याख्यान हुए।

स्वामी जी के प्रचार का वृत्तान्त इतना है कि यदि सब लिखा जाय तो एक बहुत बड़ा पोथा तैयार हो जाय क्योंकि भारत का कोई शहर ऐसा नहीं छोड़ा जिसमें कई कई बार न गए हो और शास्त्रार्थ न किया हो तथा व्याख्यान न दिया हो। स्वामी जी के भाषण में अद्भुत शक्ति थी। उनकी बातें धार्मिक और अलंकारिक होती थीं। श्रोता तल्लीन हो जाते थे। चूंकि स्वामी जी उस समय सत्य कहने मे देश के विरुद्ध थे इसलिए विरोधी अपने स्वार्थ में बाधा देख कर प्रायः उनको अपमानित करने, मारने आदि का प्रयत्न किया करते थे। कई बार तो उन्हे विष दिया गया। पर वे जान जाने पर न्यौली क्रिया द्वारा उसे निकाल फेंकते थे।

एक बार पूना में धूम धाम से उनका जुलूस निकालने का प्रबन्ध हुआ। विरोधियों ने पहले ही सवेरे से गर्दभानन्दाचार्य की सवारी निकाली और तरह तरह के अपशब्द बकते हुए शाम तक उसे शहर मे घुमाते रहे। स्वामी जी का जुलूस निकलने पर वे लोग अंड बंड बकने लगे। कुछ उत्तर न मिलने पर ईंट, पत्थर, कीचड़ आदि फेंकने लगे। पुलिस के प्रबन्ध करने पर ये उपद्रव शान्त हुए। अनेक स्थानो पर स्वामी जी के प्रति ऐसे ही उपद्रव किए जाते थे पर स्वामी जी इसकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करते थे न किसी से रिपोर्ट करते थे। बल्कि हँसते हुए कह देते थे "इसका उपाय है प्रसन्नता और शान्ति, सब आप ही शान्त हो जायंगे।" उनके विरोधी मुँह पर उन्हे गाली देते थे पर वे हँस कर ही नम्रता पूर्वक उन्हे उत्तर देते थे।

जिन दिनों ऋषि दयानन्द भारत के नव्य संगठन में लग रहे थे उन्हीं दिनो दिल्ली में बड़े धूम-धाम से पहला दरबार हुआ। स्वामी दयानन्द जी ऐसे अवसर से कब चूकनेवाले थे। वहाँ

पहुँचे और भारत के भिन्न भिन्न स्थानों से आए हुए बड़े बड़े सभी लोगों से मिल कर अपने विचार भली भाँति प्रकट किए।

यही नहीं कि स्वामी जी ने सनातन धर्म की रुढ़ियों का ही खण्डन किया हो। उन्होंने ईसाई और मुहम्मदीय धर्म की भी जो बातें असत्य प्रतीत हुई, लम्बी खबर ली। ईसाई पादरियों और मौलवियों से भी जगह जगह बहस मुबाहिसे हुए। उन लोगों को हार माननी पड़ी।

स्वामी जी अपने सिद्धान्तों के आगे बड़ी से बड़ी सम्पत्ति को तुच्छ समझते थे। उदयपुर के महाराजा साहब ने उनसे कहा—"स्वामी जी आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दें और महादेव की गद्दी के महन्त बन जावें।" स्वामी जी ने उत्तर दिया "यदि मुझे सम्पत्ति की इच्छा होती तो प्यारे माँ बाप को क्यों छोड़ता, घर की ज़मींदारी क्यों लात मारता। मेरे जीवन का उद्देश्य महन्तों की गद्दी को हटाना है न कि महन्त बनना।"

स्वामी जी हिन्दू-समाज को कष्ट नहीं देना चाहते थे। वे उसका सुधार करना चाहते थे। वे दुख-सागर संसार को सदाचार, अविद्या, अज्ञानता और पाखंड से दूर करके सुख-सागर बनाना चाहते थे। उन्होंने आर्य्य-समाज के नियमों में बताया है कि शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति करना विशेष बल है, उसे अवश्य करना चाहिए। स्वामी जी का सिद्धान्त था कि निराकार ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। मृतकों का श्राद्ध न कर जीवित पितरों की सेवा करना ही श्राद्ध है। वर्ण-व्यवस्था जन्म से न मान कर कर्म से मानना चाहिए। पीर, पैग़म्बर का मानना बुरा है। भाँति भाँति के देवी-देवताओं की उपासना करना ग़लती है। टोने टोटके करना मूर्खता है मध्यकाल की बनी पुस्तकों में प्रायः बहुत सी बातें स्वार्थवश

झूठी लिखी गईं हैं। अस्तु, जो बातें बुद्धि में नहीं समातीं प्रकृति नियम से विरुद्ध और असंभव हैं ; उन्हे न मानना चाहिए। एक ज़बर्दस्त पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' लिख कर स्वामी जी ने उसमें इन सब बातों का अच्छा विवेचन किया है।

बालको की साधारण शिक्षा से लेकर वेदों के भाष्य तक बहुत सी अत्यन्त उपयोगी उपयोगी पुस्तके स्वामी जी ने लिखी हैं।

आर्य्यसमाज का संसार व्यापी कार्य आज जो हम को दिखलाई पड़ रहा है वह ऋषि दयानन्द के ही बोए और सींचे हुए वृक्ष का फल है। स्वामी जी ने अपने उद्देश्यों में बताया है "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में हमेशा तत्पर रहो। यदि मेरी भी कोई बात सचमुच झूठ समझो तो उसे कदापि न मानो।"

इसीलिए पूर्व में हमने कहा है कि यदि उस समय स्वामी जी उत्पन्न न हुए होते तो हिन्दू जाति की न मालूम आज क्या दशा होती। आधे से ज़्यादा हिन्दू मुसलमान और ईसाई दिखलाई पड़ते। बचे हुए हिन्दुओं में भी सब पीर पैग़म्बर आदि के कारण दूसरों को ही अपना जीवन सौंपे होते। अछूत हम से दूर हो गए होते। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह ने जाति को नष्ट कर दिया होता। पुनर्विवाह के प्रचार न होने से विधवाओं की क्या दशा होती यह लिखना व्यर्थ है। कोई धर्मशास्त्रों, वैदिक ग्रन्थो का अनुशीलन न करता। तमाम हिन्दू जाति आँखे मीचे वैदिक ग्रन्थों को नीचे दबाए बेहोश पड़ी रहती। ऊपर कुल्हाड़ा चलता रहता।

स्वामी-जी ने केवल धार्मिक ही क्रान्ति नही की। उन्होंने देश के अन्यान्य विषयों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया। गोरक्षा के लिए उन्होने काफ़ी आन्दोलन किया। गो-करुणानिधि किताब

लिखीं। राष्ट्र भाषा हिन्दी के स्वामी जी प्रबल समथक थे गुजराती होते हुए भी उन्होंने अपनी समस्त पुस्तकें हिन्दी में ही लिखीं। हिन्दी-प्रचार की इच्छा से अन्य भाषाओं में अपनी पुस्तकों का अनुवाद अपने जीवित रहते नहीं होने दिया। वेदों का भाष्य भी हिन्दी में किया। देश की शिक्षा पर भी उन्होंने काफी विवेचन किया। बतलाया कि आज कल की शिक्षा किस प्रकार की है, पहिले किस प्रकार की थी और होनी किस प्रकार चाहिए। इस के लिए उन्होंने जन्म से ही शिक्षा का विस्तृत ढंग बवलाया है। हिन्दू-जाति की स्त्री-दशा पर भी बहुत ध्यान दिया है। विदेश यात्रा के भी स्वामी जी पूर्ण पक्षपाती थे। खाने-पीने में वे कोई भेद भाव न रखना चाहते थे। केवल शुद्धता चाहते थे। देश को वे ब्रह्मचर्य्य की विशेष आवश्यकता बतलाते थे। उनके राजनैतिक विचार भी बहुत उच्च थे। वे स्वराज्य और स्वतन्त्रता के पूरे समर्थक थे। लोकसत्तात्मक राज्य के प्रति-पादक थे और उसकी रीति प्राचीन ढंग पर अच्छी बतलाते थे। इसी प्रकार स्वदेशी वस्तु-प्रचार के भी पूर्ण समर्थक थे। कहते थे—अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य से, अपने देश का बुरा राज्य कही अच्छा है।

स्वामी जी जिन उद्देश्यों और सिद्धान्तों का प्रचार करते थे उन्हीं के अनुरूप उनका जीवन था। वे बाल ब्रह्मचारी थे। सच्चे देश-सुधारक और धर्मोपदेष्टा थे। जोधपुर में वैदिक-धर्म प्रचार के ही कारण, द्वेषियों ने सिखा पढ़ा कर स्वामी जी के रसोइया से दूध में पिसा हुआ काँच मिलवा कर उनको पीने को दिलवा दिया। स्वामी जी पी गए। काँच का असर होते ही सारे शरीर में फफोले निकल आए। स्वामी जी अजमेर पहुँचे। वहाँ सब प्रकार से उनकी चिकित्सा की गई। पर काँच ने अपना काम

पूरा कर दिया था। सब चिकित्साएँ व्यर्थ हुईं। ६० वर्ष की अवस्था में दिवाली के दिन नव्य भारत को मानसिक मुक्ति प्रदान करने वाले, हिन्दू-समाज के संरक्षक, धर्मवीर स्वामी दयानन्द सरस्वती इस नश्वर शरीर को छोड़ कर अनन्त की गोद में चले गये।

स्वामी जी के रसोइया को रुपये का लालच दिला कर विष दिलाया गया था। जब स्वामी जी को यह मालूम हुआ और रसोइया भी घबड़ा गया तो स्वामी जी ने उसे बुलाया और पूछा—"तूने यह पाप क्यों किया? उसने आँखों में आँसू भर कर कहा—"रुपये के लालच से।" स्वामी जी ने पूछा—"कितने रुपयों का लोभ तुझे दिया गया?" रसोइया—"पाँच सौ रुपये का।" स्वामी जी ने कहा—"पर अब तो तू पकड़ा जायगा और तुझे फाँसी की सजा होगी, रुपये भी न भोग सकेगा और जीवन से भी हाथ धोएगा, क्यों?" रसोइया—"महाराज मैंने बड़ा पाप किया है अब तो वह फल मेरे करम में ही बदा है।" स्वामी जी ने पास मे रक्खी हुई पाँच सौ रुपयों की थैली उठाई और रसोइये को हाथ मे देते हुए कहा—"ले जिस लोभ से तूने यह पाप किया वह इच्छा पूरी कर, इसे लेकर चुपचाप जल्दी कहीं पहाड़ों की तरफ भाग जा। देर न कर वर्ना पकड़ा जायगा फिर मैं न बचा सकूँगा।" रसोइया रुपया लेकर भाग गया।

स्वामी दयानन्द पूरे गुरु-भक्त थे। गुरु विरजानन्द के कुल कार्य वे अपने हाथ से करते थे। घर साफ करते, नहलाते, कोपीन धोते, चरण चाँपते, सभी काम करते थे।

दंडी विरजानन्द प्रज्ञाचक्षु तो थे ही। एक दिन स्वामी जी ने घर में बुहारी लगाई और जल्दी मे कूड़ा बाहर न फेंक सके। वहीं

देहरी के पास जमा कर दिया। दंडी जी जब वहाँ से निकले तो कूड़े पर पैर पड़ गया। उन्होंने स्वामी जी को बुलाया। पास आने पर बिना कुछ पूछेताछे डंडा उठा कर ज़ोर से मारा और बोले "कूड़ा यहाँ क्यों जमा किया?" स्वामी जी ने सिर्फ़ इतना कहा "महाराज, अपराध हुआ क्षमा करें।" डंडा कन्धेपर लगा था। कन्धा फूल आया। स्वामी जी अपने अपराध पर पश्चात्ताप करने लगे और रात में जब पैर दाब चुके तो बोले—"गुरू महाराज, मेरे तो ज़रा भी चोट नहीं लगी, पर डंडा घुमाने से कहीं आपके हाथ में तो चोट नहीं आगई? मुझ से बड़ा क़सूर हुआ। अब कभी ऐसा न करूँगा।"

दूसरे लोगों को जब पिटने का यह हाल मालूम हुआ तो उन्होंने दंडी जी के पास जाकर कहा—"दंडी जी, स्वामी दयानन्द को आप इस प्रकार न मारा कीजिए। उसका कंधा बहुत फूल आया है। सब शिष्यों में एक वही होनहार, यशस्वी, विद्वान् और आप का सच्चा सेवक है। यदि कहीं रुष्ट हो कर चला गया तो न केवल आपको कष्ट होगा, बल्कि एक सुयोग्य शिष्य आपके हाथ से निकल जायगा।" स्वामी दयानन्द को मालूम हुआ कि लोगों ने मेरे विषय मे ऐसा ऐसा कहा है तो स्वामी जी उन लोगों से बड़े बिगड़े, डाँटा फटकारा और कहा—"खबरदार, यदि आप लोग मेरे विषय मे आगे से इस प्रकार कुछ उनसे कहेंगे, तो ठीक न होगा।"

स्वामी जी निर्भीक वक्ता थे। वे कोई बात स्पष्ट कहने में कभी न चूकते थे। एक बार बरेली मे व्याख्यान दे रहे थे। कलेक्टर साहब भी उसमे उपस्थित थे। स्वामी जी ने बहुत सी ऐसी खरी और सच्ची-सच्ची बातें कहीं जो कलेक्टर साहब के विरुद्ध पड़ती थीं। सब के चले जाने पर कुछ शुभचिन्तकों ने

स्वामी जी से कहा—" कलेक्टर साहब के सामने आप उनके विरुद्ध की, इस प्रकार की, बातें न कहा करें, नहीं तो मुमकिन है वे पीछे कोई झगड़ा खड़ा कर दें। स्वामी जी उस समय तो चुप रहे। दूसरे दिन फिर व्याख्यान हुआ। कलेक्टर साहब इस दिन भी आए। स्वामी जी ने उन्हें आया देख कर कहा—" लोग मुझ से कहते हैं कि कलेक्टर साहब आया करते हैं। व्याख्यान में सच्ची बातें मत कहा कीजिए। ज़रा वैसे बोला कीजिए। अब मैं स्पष्ट कहता हूँ कि कलेक्टर, कमिश्नर क्या यदि राजा महाराजा भी आवें तो भी सच्ची बात कहने से मैं बाज़ न आऊँगा। सत्य के कहने के लिये मुझे मृत्यु का भी दण्ड मिले तो सहर्ष स्वीकार करूँगा। लेकिन सत्य के कहने से न रुकूँगा। आत्मा अजर अमर है। कौन सा क़लेक्टर या कमिश्नर है जो मेरी आत्मा को मार सकता है या तलवार से काट सकता है।" कलेक्टर साहब इस स्पष्ट वादिता से नाराज़ होने के बजाय और अधिक ख़ुश हुए तथा स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की।

एक बार स्वामी जी के विरोधियो ने उनके रसोइये को भड़का कर भोजन मे विष दिलवा दिया। यह बात स्वामी जी जान गए। उन्होने तो न्यौली क्रिया कर के उस जहर को निकाल दिया परन्तु रसोइया डर के मारे भाग खड़ा हुआ। स्वामी जी के कुछ भक्तो को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होने उसकी रिपार्ट जाकर तहसीलदार को दी। तहसीलदार ने रसोइये का पता लगा कर उसे पकड़ मंगाया। हथकड़ी बेड़ी डाल दी गईं। तहसीलदार सिपाहियो सहित उसको साथ लेकर प्रसन्न होते हुए स्वामी जी के पास आये और बोले-" महाराज अपराधी सामने खड़ा है। यह दुष्ट आपको ज़हर देकर भाग गया था अब पकड़ पाया है।

आज्ञा दीजिए इसे क्या सजा दी जाय" ? स्वामी जी ने हँसते हुए उत्तर दिया "भाई तुम से ज़हर देने की बात किसने कही ? मैंने तो कोई रिपोर्ट की नहीं। फिर इस बेचारे को क्यों पकड़ा ? खैर इसको इसी समय छोड़ दो। मैं संसार को क़ैद कराने नहीं, कैद से छुड़ाने आया हूं,"। स्वामी जी के वचन सुनते ही सब निस्तब्ध हो उनकी ओर देखने लगे। आहिस्ते से अपराधी की हथकड़ी बेड़ी खोल दी गई। वह बजाय भागने के स्वामी जी के चरणों में पड़ा दिखलाई पड़ा।

स्वामी जी धर्म-प्रचार में बिलकुल निर्भीक थे। कभी उन्हे सत्य के प्रचार में जीवन की आशङ्का पैदा ही नहीं हुई। एक बार एक स्थान पर पाखण्डी पंडितों से स्वामीजी का शास्त्रार्थ हुआ। स्वामी जी ने उन्हे बुरी तरह से परास्त किया। इसपर वे लोग इतने बिगड़े कि स्वामी जी को मारने के लिए दो तीन आदमी तयार किए। जब स्वामी जी के भक्तों को यह पता लगा तो उन्होंने आकर उनसे निवेदन किया कि "महाराज, आप बाहर अकेले न निकला करें। न अकेले ठहरें। चलिए बस्ती मे चलकर हम लोगो के घर ठहरिए क्योंकि दुष्ट लोग आपको मारने की फिराक मे हैं; संभव है अकेले पाकर समय असमय आक्रमण कर बैठे"।

स्वामी जी खिलखिला कर हँसे और बोले—"क्या खूब, आज आप लोग कहते है कि अकेले रहा न करे, कल कहेंगे कि घर ही से न निकला करे, परसो कहेंगे टट्टी भी बाहर न जाया करें। फिर कहेंगे कि धर्म-प्रचार ही करना बन्द कर दीजिए। भला इस प्रकार कैसे काम चलेगा। यदि मैं इस प्रकार की धमकियों से डरने लगूँ तो काम ही न चले। अस्तु, आपलोग इस विषय मे मेरी चिन्ता न कीजिए। मैं अपनी रक्षा आप कर लूँगा।"

तीन चार दिन बाद एक आदमी तलवार लेकर स्वामी जी को आधी रात के समय मारने आया। आहट पाते ही स्वामी जी की नींद खुल गई। उन्होंने जोर से जो 'हुँ' की हुंकार की तो वह डरकर भागा। उस दिन से उनके पास किसी दुष्ट ने आने की हिम्मत तक न की।

स्वामी जी जब जोधपुर धर्म-प्रचारार्थ जाने को तयार हुए तो लोगों ने समझाया "वहाँ के लोग बड़े दुष्ट होते हैं, पूरे उजड्ड होते हैं, फिर रियासती घिस घिस ठहरी। बचकर आना मुश्किल होगा। वे दुष्ट आपको मार डालेंगे, हम लोगों की प्रार्थना है कि आप वहाँ जाने का विचार तक छोड़ दें।" स्वामी जी ने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिया—"मैं जोधपुर सत्य-धर्म-प्रचार को जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा। चाहे वहाँ के लोग मेरी एक एक अँगुली की पोर के सौ सौ टुकड़े कर के मोमबत्ती की तरह भले ही जला दें पर मैं प्रचार से नहीं रुक सकता।" शाहपुराधीश ने कहा "यदि आप नहीं मानते तो जाइए परन्तु एक प्रार्थना स्वीकार कीजिए कि वहाँ वेश्याओं का खण्डन न कीजिएगा।" स्वामी जी ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया "भला पाप-वृक्षों को मैं नख-शाखों से काटूँगा? कैंची से क़लम करूँगा जिससे और बढ़ें? मैं उन्हे पैनी तलवार से समूल नष्ट कर दूँगा।"

स्वामी जी जोधपुर गए। जोधपुर जाना ही उनकी मृत्यु का कारण हुआ। पर वे अपने व्रत से न टले।

स्वामी जी का शरीर जैसा विशाल और डील डौल वाला था वैसा ही बल भी था। किसी को उनकी ओर एक टक देखने का भी साहस न पड़ता था। एक बार दो पठानों ने मारने के लिए उनका पीछा किया। स्वामी जी ने जान लिया।

वे बिना पीछे देखे चुपचाप आगे बढ़ते गए। पठान भी पीछा किए थे—सोच रहे थे कि एकान्त पाते ही दौड़ कर हमला कर देंगे। चलते चलते एक नदी पड़ी। स्वामी जी बीच नदी मे जाकर नहाने के बहाने शरीर मलने लगे। पठानों ने समझा यह अच्छा मौक़ा है; पास आए ही थे कि स्वामी जी ने पीछे घूम लपककर दोनों को पकड़ लिया और इधर उधर बगल में दबाकर बोले—"बोलो, कहो तो ज़ोर से दबा कर अभी तुम लोगों के प्राण पखेरू उड़ा दूँ?" अब तो वे गिड़गड़ाने लगे—"हम तोबा करते हैं, ख़ुदा के लिए जान बख्शो आगे कभी ऐसा गुनाह न करेंगे" यह कह कर उन्होंने अपनी २ कटारें जल में फेंक दीं। स्वामी जी ने "ख़बरदार! याद रक्खो कभी किसी के मारने का विचार करना बड़ा पाप है" कहते हुए उन्हे छोड़ दिया और चल दिए।

एकबार एक राजा साहब दो घोड़ों की गाड़ी में बैठ कर स्वामी जी से मिलने आए। बातचीत होते होते राजा साहबबोले "आपका शरीर देखने में जैसा मोटा ताजा, हट्टा कट्टा और भव्य है, क्या इसमें बल भी वैसा ही है? आप तो ब्रह्मचारी हैं ख़ूब बल होना चाहिए।" स्वामी जी ने उस समय तो उन्हें कुछ उत्तर न दिया पर जब वे बातचीत कर के चल दिए तो थोड़ी दूर निकल जाने पर स्वामी जी ने लपक कर पीछे से जाकर उनकी गाड़ी के पहिए का डंडा पकड़ लिया। गाड़ी सहसा रुक गई। कोचवान ने कितने ही कोड़े जमाए पर घोड़ वहीं उछलते कूदते रहे। आगे एक पैर भी न बढ़ सके। राजा साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या बात है। पीछे फिर कर देखा तो देखते हैं कि स्वामी जी गाड़ी का पहिया पकड़े हुए खड़े हैं। फ़ौरन गाड़ी से उतर कर राजा साहब स्वामी जी के

चरणों में गिर पड़े और बोले "अपराध क्षमा कीजिए; मैं समझ गया आप में अपरिमित बल है।"

स्वामी जी उत्तर देने में कभी न चूकते थे। कोई बात आते ही फ़ौरन ही उसका उत्तर देते थे। एक बार एक संन्यासी जो स्वामी जी के प्रचार के कारण बहुत क्रुद्ध होकर उनसे लड़ने आया था; आते ही अंट संट बकता हुआ बोला—"तुम संन्यासी नहीं धूर्त्त, ठग हो। भला संन्यासी को धातु छूना कहाँ लिखा है जो तुम अपने पास पैसा रखे हुए हो। थाली में भोजन करते हो। दूसरों को धोखा देते फिरते हो, शरम नहीं आती।" स्वामी जी हँसे और बड़ी सरलता से मुसकुराते हुए उत्तर दिया—"हाँ, स्वामिन्, आप ठीक कहते हैं मैं तो धातु छूता हुआ जब कब पैसा भी जरूर रख लेता हूँ, थाली में भोजन भी कर लेता हूँ, आप सच्चे संन्यासी हैं, आप तो धातु स्पर्श करते न होंगे। आप के ये बाल भी निश्चय ही उस्तरे से न बने होंगे क्योंकि वह धातु है। कहिए महाराज स्वामी जी, किस चीज़ से ये बाल बनाए गए हैं"? अब तो उस संन्यासी के मुख से बात न निकली, लज्जित होकर सिर नीचा किए हुए चुपचाप वहाँ से खिसक गया।

ऐसे ही एक बार कुछ चालाक धूर्त्तों ने आपस में सलाह की कि चलो स्वामी जी को चल कर शर्मिन्दा करें। उनसे चल कर पूछें कि आप ज्ञानी हैं या अज्ञानी। यदि उन्होंने कहा हम ज्ञानी हैं तो हम लोग कहेंगे आप बड़े अभिमानी हैं। यदि उन्होंने कहा—हम अज्ञानी हैं तो हम लोग कहेंगे कि यदि आप अज्ञानी हैं तो बड़ी बड़ी बातें क्यों बनाते हैं, अज्ञानी को उपदेश करने का कब अधिकार है? इस प्रकार निश्चय कर वे लोग स्वामी जी के पास पहुँचे। आवभगत करके उनके पास बैठ गए फिर वही प्रश्न पूछा। स्वामी जी ताड़ गए, फ़ौरन बोले—"देखो

मैं जीवात्मा होने से बहुत से विषयो में तो अज्ञानी हूँ पर बहुत सी बाते शास्त्रों द्वारा जानता हूँ—इस दृष्टि से ज्ञानी हूँ" वे लोग उत्तर पाकर लज्जित हो गए और चुपचाप चले गए!

श्री गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० बड़े विद्वान्, प्रसिद्ध फिलासफर और एक कट्टर नास्तिक थे। स्वामी जी से उन्हे इतनी घृणा थो कि वे उनका मुख देखना तक पाप समझते थे। जब स्वामी जी मृतप्राय थे तो गुरुदत्त को मालूम हुआ। उन्होंने सोचा—"चल कर देखना चाहिए कि पापी कितने कष्ट से मरता है। आज उसका छटपटाना तो देख लूँ।" बड़ी प्रसन्नता से गुरुदत्त स्वामी जी के स्थान पर पहुँचे। मरणासन्न ऋषि प्रसन्नमुख इधर उधर खड़े लोगो को उपदेश दे रहे थे। सारे शरीर मे फफोले थे पर आस पास भी कहीं 'आह' का शब्द न था। मालूम होता था कोई स्वथ्य पुरुष हँस २ कर उपदेश कर रहा है। "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो, ॐ" कहते हुए स्वामी जी ने अन्तिम निश्वास छोड़ दी। चारों ओर से आँसुओ की सरिता बह चली। केवल एक व्यक्ति था जो दूर कोने मे खड़ा एकटक ऋषि-मुख की ओर देख रहा था। आँसू का नाम न था पर मुख पर एक नए प्रकार की गंभीरता थी। वह कह रहा था "मैं पुस्तको पर नहीं, अपने जीवन के पृष्ठों पर ऋषि दयानन्द के चरित को लिख रहा हूं।" अब वह नास्तिक गुरुदत्त आस्तिक गुरुदत्त हो गए थे।

अभी तीन वर्ष हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती की शताब्दी जयन्ती मथुरा मे बड़ी धूम धाम से मनाई गई थी। ऐसा उत्सव १००-५० वर्ष के भीतर शायद ही कहीं मनाया गया हो। चार लाख मनुष्यों की अपार भीड़ थी। जापान, अमेरिका, अफ्रीका, इङ्गलैण्ड तक से प्रतिनिधि आए थे। सभी सम्प्रदायियो के निबन्ध व्याख्यान आदि हुए थे। परस्पर मिलन, संभाषण, कार्य-

विधि, प्रबन्ध आदि के दृश्य देखने लायक़ थे। बिलकुल सतयुग का नज़ारा मालूम होता था। एक अपूर्व दृश्य था। शताब्दी के सभापति स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कहा था—"यां तो मैं इतिहास में अशोक के समय ऐसे उत्सवों का होना पढ़ा करता हूँ या यह शताब्दी उत्सव देखा है।" शताब्दी उत्सव के सफलता पूर्वक सम्पन्न होने का एक मात्र कारण था आर्य समाज के स्तम्भ, सच्चे संन्यासी श्री नारायण स्वामी जी का अपूर्व साहस, अद्भुत कार्य-क्षमता और तत्परता तथा देशानुराग।

३—परमहंस स्वामी श्री रामकृष्ण

ध्यात्मिक जोवन ही श्रेष्ठ और वास्तविक जीवन है यह सिद्ध कर दिखाने वाले महापुरुषो के जन्म देने का सौभाग्य भारतवर्ष को ही प्राप्त है। भारतीय महापुरुषों ने ही संसार को शान्ति का पाठ पढ़ाया है। ऐसे ही महापुरुपा मे परमहंस स्वामी रामकृष्ण भी थे।

परमहंस रामकृष्ण जी का जन्म सन् १८३३ ई० मे हुगली के समीपवर्त्ती कामारपूकर नामक गॉव मे एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पिता का नाम था श्री खुदीराम चट्टोपाध्याय। खुदीराम जी के तीन पुत्र थे जिनमें हमारे चरित-नायक सब से छोटे थे। ईश्वरीय अवतारो के सदृश उनके जन्म-विषय मे भी अनेक किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

स्वामी जी बाल्यकाल से ही अत्यन्त नम्र स्वभाव के थे। वाणी बहुत ही मधुर और मनोहारिणी थी। इसी से अड़ोस पड़ोस और गॉव के लोग उन से बहुत प्रसन्न रहा करते थे और प्रायः अपने घरो मे ले जाकर उन्हे भोजन कराया करते थे। उनका ध्यान कृष्ण चरित्र सुनने और उनकी लीला करने में बहुत लगता था। देव-पूजा मे तो ऐसी श्रद्धा थी कि स्वतः पार्थिव पूजन किया करते थे और कभी कभी भक्ति-भाव मे तन्मय होकर अचेत हो जाते थे। समीपवर्त्ती अतिथि-शाला में जाकर प्रायः अभ्यागतों की सेवा, परिचर्या किया करते थे।

सोलह वर्ष की अवस्था में स्वामी जी का यज्ञोपवीत हुआ और

वे तभी पढ़ने के लिए पाठशाला मे भेजे गए। चित्त पढ़ने मे बिलकुल न लगता था। संस्कृत पाठशाला मे पंडितो के व्यर्थ के नित्य-प्रति के वादविवाद सुनकर घवड़ा गए और दुःखी होकर एक दिन बड़े भाई से स्पष्ट बोले—

"भाई, पढ़ने लिखने से क्या होगा? इस पढ़ने लिखने का उद्देश्य तो केवल धन धान्य पैदा करना है। मै तो वह विद्या पढ़ना चाहता हूं जो मुझे परमात्मा की शरण मे पहुंचादे।" ऐसा कह कर उस दिन से पढ़ना छोड़ दिया। यदि आपकी हस्तलिखित रामायण न मिलती तब तो लोगों को यही निश्चय न होता कि स्वामी जी बिलकुल ही पढ़े लिखे थे या नहीं।

स्वामी जी का चित्त पूजा में लगता ही था—काली देवी के मन्दिर के पुजारी बना दिए गए। वहाँ अनन्य भक्ति के साथ काली जी की पूजा करने लगे, परन्तु यह प्रश्न हृदय में सदैव हिलोरें लेता रहता था कि "क्या वस्तुतः मूर्त्ति मे कोई तत्त्व है? क्या सचमुच यही जगज्जननी आनन्दमयी माँ हैं या यह सब केवल स्वप्नमात्र है?" इत्यादि। इस प्रश्न से उन्हे यथाविधि काली पूजा करना कठिन हो गया। कभी भोग ही लगाते रह जाते, कभी घंटो आरती ही करते रहते, कभी सब कार्य छोड़ कर रोया ही करते और कहा करते, "मां, ओ माँ, मुझे अब दर्शन दो। दया करो, देखो जीवन का एक दिन और वृथा चला गया। क्या दर्शन नही दोगी? नहीं, नहीं, दो जल्दी दर्शन।" अन्त में हालत इतनी बिगड़ती गयी कि उन्हे पूजा त्यागनी ही पड़ी।

परमहंस जी अपनी धुन में मस्त हो गए, दिन रात उन्हे काली दर्शन का ही ध्यान रहने लगा। उन्होंने १२ वर्ष की कठिन तपस्या की, जिसमें खानापीना, सोना छोड़ कर एक टक, एक ही ध्यान में रहे। इस समय स्वामी जी का भतीजा कभी २ जबरन उन्हें २-४

ग्रास भोजन करा जाता था। १२ वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् उन्हो ने अपूर्व शान्ति लाभ की।

काञ्चन भाव दूर करने के लिए स्वामी जी एक हाथ मे रुपया और अशर्फी तथा दूसरे मे मिट्टी लेकर कहते थे–" ऐ मन, जिस पर विक्टोरिया की छाप लगी है यह वह वस्तु है जिससे मनुष्य भाँति २ के पदार्थ भोगता है, ऐश करता है। इस मे वड़े आलीशान मकान वनाने की शक्ति है परन्तु ज्ञान, सच्चा आनन्द या ब्रह्म को प्राप्त करने मे यह कदापि सहायता नही दे सकती।" फिर दूसरे हाथ की ओर देख कर कहते–"देख, यह मिट्टी है। यह वह वस्तु है जिस से खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा वड़े वड़े मकान वनते है, वड़ी २ मूर्तियां वनती हैं। ऐ मन, ये दोनो ही जड़ पदार्थ हैं, समान हैं। तू इन्हे लेकर क्या करेगा ? तू तो सच्चिदानन्द में लीन होने की चेष्टा कर"। ऐसा कहते हुए रुपया, अशर्फी और मिट्टी तीनों को एक मे मिलाकर गङ्गा जी में फेंक देते थे।

एक और पहुंचे हुए साधु थे जिनका नाम था तोताराम। राम कृष्ण जी इन्हें अपना गुरु परन्तु तोता राम जी इन्हे अपना सखा मानते थे। एक दिन दोनों में वैठे हुए कुछ बात चीत हो रही थी कि किसी व्यक्ति ने आकर तोताराम जी की धूनी से आग उठा कर चिलम में भरली। तोताराम जी वड़े क्रुद्ध होगए और उसे वहुत कुछ वके झके कि तूने मेरी अग्नि अपवित्र कर डाली। यह सुन कर परमहंस जी से न रहा गया। उन्होंने नम्रता पूर्वक कहा– "महाराज, क्या इसी प्रकार आप सब वस्तुओं को ब्रह्म मानते हैं ? क्या यह आदमी और अग्नि ब्रह्म से भिन्न वस्तु हैं ? ज्ञानियो को तो ऊँच नीच समान है।" तोताराम जी शान्त होकर वोले–" भाई तुम ठीक कहते हो। आज से मुझे क्रुद्ध न देखोगे।" इसके वाद उन को कभी क्रोध करते नहीं देखा गया।

शास्त्र में बतलाया है कि भगवान की भक्ति के नौ प्रकार हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य-भाव, सख्य-भाव और आत्म-निवेदन। स्वामी जी ने पृथक् २ प्रत्येक प्रकार की साधना करके पूर्ण भक्ति प्राप्त की।

यही नहीं, स्वामी जी ने सिक्ख धर्म स्वीकार करके उसमे पूर्ण भक्ति प्राप्त को। तीन चार दिन एक मुसलमान के साथ रह कर मुहम्मदीय धर्म का भी निचोड़ देखा। ईसा के चित्र को ही देख कर कुछ समय के लिए आत्म-विस्मृत हो गए; कई दिन तक उन्हीं का ध्यान करते रहे।

इस प्रकार सब धर्मों व सम्प्रदायों का मथन करके स्वामी जी ने निश्चित समझ लिया कि ईश्वर प्राप्ति के लिए किसी विशेष धर्म की आवश्यकता नहीं, वह तो किसी भी धर्म में प्राप्त किया जा सकता है।

ऐसा निश्चय करके वे तीर्थयात्रा को निकले और एक बार भारत मे सर्वत्र घूम कर दक्षिणेश्वर में आकर ठहरे। यहीं रह कर लोगो को धर्मोपदेश करने लगे। लोग बड़ी २ दूर से धर्मोपदेश सुनने के लिए आया करते थे जिनमें बड़े २ विद्वान, धर्मनिष्ठ, धनवान आदि सभी श्रेणी के पुरुष होते थे। दिन रात दर्शनार्थ आए हुए लोगों की अच्छी खासी भीड़ लगी रहा करती थी।

स्वामी जी ज्ञान, योग, वेदान्त अथवा अद्वैत मीमांसा का निरूपण किया करते थे। उनका कहना था "ब्रह्म, कालदेश निमित्त आदि से कभी मर्यादित नहीं हुआ, न हो सकता है फिर भला मुख के शब्द द्वारा ही उसका यथार्थ वर्णन कैसे हो सकता है। ब्रह्म तो एक अगाध समुद्र के समान है, वह निरुपाधित, विकार-हीन और मर्यादातीत है। तुम से यदि कोई कहे कि महासागर का यथार्थ

वर्णन करो तो तुम बड़ी गड़बड़ी में पड़ कर यही कहोगे—अरे, इस विस्तार का कहीं अन्त है। असंख्य लहरें उठ रही हैं कैसा गर्जन हो रहा है इत्यादि। इसी तरह ब्रह्म को समझो।"

"यदि आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखते हो तो पहले अहम्भाव को दूर करो क्यों कि जब तक अहंकार दूर न होगा, अज्ञान का परदा कदापि न हटेगा। तपस्या, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि साधनों से अहङ्कार दूर कर आत्म-ज्ञान प्राप्त करो, ब्रह्म को पहचानो।"

जिस प्रकार पुष्प की सुगन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर समूह उस पुष्प को आच्छादित कर लेता है उसी प्रकार परमहंस स्वामी रामकृष्ण जी के आत्म-ज्ञान-रूपी अबाधित प्रकाश से आकृष्ट भक्त रूपी पतङ्ग स्वामी जी को सदैव घेरे रहते थे। वे सदैव सब को धर्मोपदेश रूपी वचनामृत से तृप्त करते रहते थे। स्वतः तो हर समय ब्रह्मलीन रहते ही थे।

एक दिन स्वामी जी के गले मे कुछ पीड़ा होने लगी, शनैः २ उसने गंडमाला का रूप धारण कर लिया। डाक्टर वैद्यों ने औषधोपचार में कोई कमी न उठा रक्खी पर स्वामी जी तो समझ चुके थे कि अब मुझे इस संसार से जाना है। तीन मास बीमार रहे पर बराबर उत्साह पूर्वक,पूर्ववत्, धर्मोपदेश करते रहे। एक दिन अपने एक भक्त से पूछा-"आज श्रावणी पूर्णिमा है? तिथि-पत्र में देखो।" भक्त ने देख कर कहा—"हां"। बस, स्वामी जी समाधि मग्न होगए और प्रतिपदा को प्रातः काल इह लीला समाप्त कर दी। घर घर यह दुखद समाचार फैल गया। बात की बात में सहस्रों नर नारी एकत्रित हो गए। पञ्चतत्त्वमय शरीर पञ्चतत्त्व मे मिला दिया गया।

स्वामी जी सदैव शान्त और प्रसन्न मुख रहा करते थे। उन्हें

उदास या क्रोध करते हुए तो कभी भी देखा ही नहीं गया। उनमें अद्भुत आकर्षण-शक्ति थी। मनुष्य उनके उपदेश से एकदम प्रभावान्वित हो जाता था। दूसरों की शंकाएँ वे छूमन्तर की तरह बात की बात मे नष्ट कर देते थे। प्रत्येक बात के समझाने में वे अनेक उदाहरण देते थे जिससे मनुष्य के हृदय पर उनकी बात पूरी तरह जम जाती थी।

उनके जीवन की अनेक घटनाएं हैं।

जगत प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द परमहंस जी के ही प्रधान शिष्य थे। प्रसिद्ध श्री केशवचन्द्र सेन के जीवन के महान परिवर्त्तन के कारण परमहंस जी ही थे।

एक बार श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर परमहंस जी के दर्शनों की इच्छा से उनके पास गए। परमहंस जी कुछ देर टकटकी लगाए उनकी ओर देखते रहे फिर बोले—

"आज तक मैंने बहुत से बम्बे, नाले, नहरें, नदी, नद देखे थे पर सौभाग्य से आज सागर का दर्शन हो ही गया"।

विद्यासागर—पहले आप मीठे पानी के पास थे, अब आप को खारा पानी मिलेगा।

परमहंस—नहीं, आप खारे समुद्र नहीं आप तो क्षीर-सागर हैं। अविद्या नहीं, विद्यासागर हैं।

विद्यासागर—(संकोच से हँसते हुए) आप जो चाहे कहे।

परमहंस—आप का स्वभाव सतोगुणी है जो सत्य ज्ञान की ओर लेजानेवाला है। हाँ, वह आपको स्वस्थ नहीं बैठने देता सदा उद्योग में रखता है। पर आप सिद्ध पुरुष हैं; आप का अन्तःकरण बिलकुल मृदु और कोमल हो गया है जैसे आलू आदि शाक सिद्ध (तैयार) होनेपर हो

जाते हैं। जो आचरण निष्काम बुद्धि से होता है उसके लिए क्या कहना।

विद्यासागर—परन्तु कुचैलो दाल सिद्ध होने पर घोंटने से कठिन हो जाती है, मृदु नहीं रहती। क्या यह सच है?

परमहंस—परन्तु आप वैसे पण्डित नहीं है, आप का वह हाल नहीं है। पञ्चाङ्ग मे लिखा रहता है कि अमुक २ दिन इतनी इतनी जल वृष्टि होगी लेकिन पञ्चाङ्ग निचोड़ने से एक बूँद भी जल नहीं निकलता। इसी तरह हम लोगों में पण्डित कहलाने वाले बहुत हैं जो बढ़ २ कर बातें तो मारा करते हैं, पाण्डित्य तो बघारते हैं पर अनुभव के साथ बोलने वाले बहुत कम हैं। आप अनुभव के साथ बोलते हैं।

इसी प्रकार बहुत देर बातचीत करने के अनन्तर प्रसन्न होते हुए विद्यासागर जी घर चले गए।

परमहंस जी के विवाह के समय उनकी स्त्री की अवस्था केवल ५ वर्ष की थी। ग्यारह वर्ष बाद स्वामी जी की इच्छा हुई कि ससुराल चलना चाहिए। बस, वे ससुराल जा पहुँचे और बिना पूछेताछे घर मे घुसते चले गए, आंगन मे जा खड़े हुए। उन की स्त्री जो इस समय १६ वर्ष की थी, किसी कार्य मे लगी थी। एक अपरिचित मनुष्य को पागल की तरह सामने खड़ा देख चिल्ला उठी—"माँ! देख, कोई पागल घर मे घुस आया है।" माँ ने निकल कर देखा। कुछ देर तो पहचान न सकी फिर "यह तो मेरा दामाद है, हाय क्या मेरे भाग्य मे यही बदा था?" कहते हुए पृथ्वी पर गिर पड़ो। सचेत होने पर देखा कि रामकृष्ण पूजा की सब सामग्री जुटा कर स्त्री से कह रहे हैं—"आ, इस चौकी पर बैठ"।

सहज स्वभाव वाला आकर चौकी पर बैठ गई। परमहंस "माँ, माँ" कह कर उस के चरणों पर पुष्पाञ्जली चढ़ाने लगे और आरती करने लगे। उनको सास यह दृश्य देख कर उन्हें कटु वाक्य कहने लगी। पर वे पूजा समाप्त कर वहाँ से चले गए।

रामकृष्ण के चले जाने के दो वर्ष बाद उनकी स्त्री ने जो अब तक जानती थी कि मेरा पति पागल है अब जाना कि वह तो एक असाधारण ज्ञानी पुरुष है। निदान एक दिन वह अपनी माता को साथ ले उनके दर्शनों को चल पड़ी और ३०-४० मील पैदल यात्रा कर दक्षिणेश्वर पहुँची।

परमहंस जी ने उस का बड़ा आदर करते हुए कहा—"तुम्हारा पति रामकृष्ण तो मर गया, यह नवीन रामकृष्ण है जो संसार की तमाम स्त्रियों को माँ समझ रहा है" यह कह कर वे उसके पैरों में गिर पड़े। स्त्री भी स्वामी के मन का भाव समझ गई, बोली—"मेरी भी यही इच्छा है कि मैं अपने को आपके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करूँ। मैं केवल यही चाहती हूं कि आप की सेवा और ईश्वर भजन मे अपना काल यापन करूँ।" वह वहीं मन्दिर में रहने लगी। एक दिन परमहंस जी के एक भक्त ने उसे दश हज़ार रुपया देना चाहा पर साध्वी स्त्री ने कहा—"मैं इसे क्या करूँगी; मैं तो यथासम्भव अपने पति का अनुकरण करना चाहती हूँ"।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी के जीवन की ऐसी ही कितनी ही घटनाएँ हैं जिन से समझ में आ जाता है कि वे ईश्वर के कैसे अनन्य भक्त, धर्मोपदेष्टा और पहुँचे हुए सिद्ध पुरुष थे।

४--श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

भारत वर्ष के वीरों की कथा ने पृथ्वी पर जिस अविनाशी कीर्ति-मन्दिर की स्थापना की है, मनुष्य समाज मे जो आदर्श संसार के सामने स्थापित किये हैं उनमें एक अमर-पुरुष दयासागर श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का चरित्र भी है।

ईश्वरचन्द्र जी के जन्म के विपय में अनेक 'कथाएं प्रचलित हैं पर हम केवल यही वतलाना चाहते है कि उनका जन्म सन् १८२० ई० में वङ्गाल के मेदिनी जिले के समीप वीरसिंह नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता ठाकुरदास वन्धोपाध्याय एक ग़रीव ब्राह्मण किन्तु निष्ठावान और कर्त्तव्य-निरत व्यक्ति थे।

पाँच वर्ष की अवस्था में वालक ईश्वरचन्द्र ग्राम-पाठशाला में पढ़ने वैठाये गये। अभी छै महीने ही पढ़े होंगे कि वीमार हो गये। वचने तक की आशा न रही। वड़ी मुश्किल से वचे। फिर पढ़ना आरम्भ किया और आठ वर्ष की उम्र मे पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर ली। पढ़ने में विद्यासागर की वुद्धि वड़ी तीव्र थी। जो पाठ पढ़ाया जाता, फौरन याद कर लेते। शिक्षकवर्ग वुद्धि की विलक्षणता देख कर उनसे वड़ा स्नेह करते और कहते थे कि यह वालक किसी समय महा पुरुप होगा। विद्यासागर पढ़ने में जैसे तीव्र थे वैसे ही खिलाड़ी और उपद्रवी भी थे। शैतानी कूट २ कर भरी थी। दूसरों के घरों के सामने पेशाव कर आना, टट्टी फिर आना उनके लिए साधारण वात थी। जव घर की लड़कियां, वहुएँ मारने के लिये पकड़ने दौड़ती तो वे भाग खड़े होते। घर

की बड़ी बूढ़ी औरतें जिन्होंने ज्योतिषियों के मुख से विद्यासागर के विषय में सुन रक्खा था—कहतीं "अरे जाने दो इससे कुछ न कहो यह भविष्य का महा पुरुष है।"

किसी के धुले हुए कपड़े सूखते देखते तो विद्यासागर उन्हें अशुद्ध कर आते थे। रास्ते मे चलते हुए खेतों में से वालें तोड़ कर कुछ खाना, कुछ इधर उधर फेंक देना उनका एक प्यारा खेल था। एकबार एक वाली गले मे अटक गई जिससे मरते २ वचे। इसी प्रकार उन्होंने अपने उपद्रवी जीवन में अनेक कष्ट उठाये।

दस वर्ष की अवस्था मे विद्यासागर कलकत्ते पढ़ने भेजे गये। वहाँ संस्कृत कालेज में भरती हुए। इस समय उनकी बुद्धि की असाधारण प्रतिभा देखी गई। इङ्गलिश का उस समय प्रचार कम था। उन्होंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। अध्यापक उन्हें देखकर आश्चर्य करते थे और कहते थे "इस वालक को पढ़ाने में हमें बड़ा ध्यान रखना पड़ता है, जब हम पढ़ाते हैं तो इसके प्रश्नों से ऐसा मालूम होता है कि यह बहुत पहले से ही पढ़ा हुआ है।" बीस वर्ष की उम्र में विद्यासागर अलङ्कार, काव्य, ज्योतिष, दर्शन, व्याकरण, वेदान्त, न्याय, धर्मशास्त्र आदि में पूर्ण पण्डित होगये। सभी विषयों की परीक्षाएँ उच्च श्रेणी में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ पास की। इक्कीस वर्ष की उम्र मे उन पंडितों ने जो अपने विषयों के उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे—ईश्वर चन्द्र को 'विद्यासागर' की उपाधि से विभूषित करतेहुए उन्हें प्रमाण-पत्र दिया।

वालक-जीवन के प्रिय और शैशव काल के उच्चतम उज्ज्वल दृष्टान्त को पीछे छोड़ कर विद्यासागर जिम्मेदारी-पूर्ण कर्मक्षेत्र के द्वार पर आ डटे। कलकत्ता फ़ोर्ट विलियम कालेज में ५०) मासिक की संस्कृत पण्डित को जगह ख़ाली हुई। दूसरों के अनेक

प्रयत्न करनेपर भी विद्यासागर को ही उक्त पद दिया गया जिसपर वे बड़ी योग्यता के साथ कार्य करने लगे। उनके कार्य से अल्प समय में ही सब प्रसन्न हो गये।

उन ने खुद भी पढ़ाने के साथ ही साथ अंगरेजी और हिन्दी का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही समय मे ही उनमें भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वे दिन रात परिश्रम करते थे। खाली बैठना तो जानते ही न थे। विद्यार्थियो को पढ़ाना, दो २ वार खुद पढ़ना; इसके बाद बँगलों आदि पर अङ्गरेजों को संस्कृत, हिन्दी पढ़ाने जाना, इसके अतिरिक्त दीन दुखियों को यथाशक्ति सहायता, उनके दुख दूर करने का निरन्तर प्रयत्न ये उनके नित्य के कार्य थे। दूसरो के कार्य के लिये बीस २ तीस २ कोस पैदल धूप में चले जाते थे।

उनका पढ़ाना देखकर दूसरे लोग दङ्ग रह जाते थे। किसी प्रकार का पक्षपात करना, या किसी से डरना तो वे जानते ही न थे। मि० मार्शल संस्कृत कालेज के प्रिन्सपल थे। वे विद्यासागर से वड़ा स्नेह रखते थे। उन्होंने ही उन्हे नौकरी दी थी। वहुत से सिविलियन संस्कृत की कठिन पढ़ाई के कारण परीक्षा मे फेल हो जाते थे और निराश होकर दुख के साथ विलायत लौट जाना पड़ता था। उनका पक्ष करते हुए एक दिन मार्शल साहब ने विद्यासागर के पास आकर नम्रता से कहा—"परीक्षा लेने मे इन लोगो की रियायत कर दिया कीजिए।" विद्यासागर ने फ़ौरन उत्तर दिया "मैं न्याय-विरुद्ध अनुचित-पक्षपात नहीं कर सकता, चाहे मुझे आज नौकरी से पृथक कर दीजिये।" यह थी विद्यासगर की निर्भीकता और कार्य करने की दृढ़ता।

एक वार भारत के तत्कालीन गवर्नर कालेज देखने आये। विद्यासागर से वहुत देर तक उनकी बातचीत होती रही। विद्या-

सागर ने कहा "संस्कृत-कालेज से पढ़कर निकले हुए विद्यार्थियों के लिए जीविका का प्रश्न टेढ़ा होता जा रहा है, नौकरी आदि न मिलने से संस्कृत की ओर से लोगों की रुचि हटती जा रही है; कोई ऐसा यत्न होना चाहिये जिससे यह प्रश्न हल हो।" गवर्नर पर विद्यासागर की बात का बहुत असर पड़ा। उसने उसी साल एक सौ एक बङ्गला स्कूल खुलवा दिये और विद्यासागर तथा मार्शल साहब को उनके कार्य सञ्चालन पर नियुक्त कर दिया।

विद्यासागर ने बड़ी योग्यता के साथ उन स्कूलो का कार्य चलाया। हालाँ कि उनके न्याय-प्रिय होने के कारण उनसे कुछ लोग अप्रसन्न भी हुए पर उन्होंने अप्रसन्नता की ज़रा भी परवाह न की। इस प्रकार सैकड़ों पुरुषो को जीविका दिलाई। कई वार अधिक वेतन की अच्छी २ जगहें खाली हुईं और उनसे उन जगहों के लिए अनुरोध किया गया पर वे न गए, दूसरों को वहाँ करवा दिया। इस तरह अपने निर्लोभ होने का परिचय दिया।

धीरे २ विद्यासागर स्कूलो के इन्स्पेक्टर हो गये। उन्होंने कितनी ही शिक्षा-संस्थाओ को जन्म दिया, कितने ही स्कूलों के प्रवन्धक, परीक्षा-मन्त्री, सदस्य, सञ्चालक आदि रह कर वड़ी योग्यता से उनका कार्य किया। कितने ही विद्यार्थियो को छात्र-वृत्ति, कितने ही अध्यापकों को अध्यापकी, कितने ही अन्य मनुष्यों को उनके योग्य कार्य दिलाए। ५०) रु० से लेकर ५००) रु० मासिक के पद तक विद्यासागर जा पहुंचे जिसमे अपनी कार्य-क्षमता और प्रतिभा का अपूर्व परिचय दिया।

किन्ही कारणों से शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर से कुछ मतभेद हो जाने के कारण विद्यासागर ने शिक्षा-विभाग से इस्तीफा दे दिया। डाइरेक्टर ने बहुत चाहा कि वे अपना इस्तीफा वापिस लेलें पर स्वाभिमानी विद्यासागर को यह कब प्रिय था उन्होंने न माना।

५००) रु० की नौकरी पर लात मार, गुलामी की जंजीर तोड़कर निकल खड़े हुए। नौकरी छोड़ने के कारण उनको आर्थिक कष्ट अवश्य उठाना पड़ा पर वे ज़रा भी विचलित न हुए। संस्कृत और बँगला-साहित्य में बालोपयोगी, नवयुवकोपयोगी पचासों पुस्तकें लिख डाली। समाज-सुधार सम्बन्धी कई समाचार-पत्र निकाले जिनकी बहुत अच्छी मांग हुई।

चूंकि विधवा-विवाह के वे पूर्ण पक्षपाती थे इसलिए विधवा-विवाह पर भी कई पुस्तकें लिखीं पर प्रकाशित तभी करवाई जब माता पिता ने प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा दे दी। बंगला-साहित्य विद्यासागर का चिर ऋणी है और रहेगा। पुस्तक लिखने से उन्हे जो द्रव्य प्राप्त हुआ उसे भी उन्होने परोपकार मे ही खर्च किया। परोपकार के लिए कितने ही बार वे दूसरों के ऋणी हो गए पर अपनी यह भली आदत न छोड़ी। स्त्री-शिक्षा के वे कट्टर पक्षपाती थे। उसके लिए भी बहुत प्रयत्न किया, कई पुस्तकें लिखी। समाचार-पत्रो द्वारा खूब आन्दोलन किया। अनेक विरोधों के होते हुए भी बड़ी तत्परता के साथ विधवा-विवाह का कानून व्यवस्थापिका सभा मे पास करवाया। उन्होंने समाज सुधार सम्बन्धी अनेक कार्य किए, मादक द्रव्य-निषेध का ख़ूब आन्दोलन किया। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह का जोरों के साथ खण्डन किया।

आज भी बङ्गाल मे जो कितनी ही ब्राह्मणेतर जातियाँ हिन्दू-धर्म, हिन्दू-शास्त्र, और समाजतत्त्व की आलोचना कर के अपनी आत्मा तृप्त करती हैं उसका श्रेय विद्यासागर को ही प्राप्त है। वे कहते थे सब को समान रूप से पढ़ने का अधिकार है।

विद्यासागर की लोक-सेवाएँ अपूर्व थीं। जन्म से मरते समय तक उन्होने सैकड़ो रोगियो के सिरहाने बैठ कर सैकड़ों रातें बिता

दीं। ग़रीबों के दुःख मिटाने के लिए हज़ारों रुपया ख़र्च कर दिया। उनके लिए बड़े २ कष्ट सहे। उसी में अपना जीवन सफल समझा। वे अपने धर्म-मत या धर्म-विश्वास को सदा गुप्त रखते थे; किसी पर प्रगट न करते थे। उनके अन्त समय तक कोई भी यह न जान सका कि वे ब्रह्मो-समाजी हैं या सनातन-धर्मी। हाँ. यह सब जानते थे कि वे सच्चे हिन्दू और हिन्दू-जाति के हितैषी थे। इस प्रकार अपना प्रभाव-प्रकाश संसार में छोड़ कर इकहत्तर वर्ष की आयु में महापुरुष श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर स्वर्ग धाम को अग्रसर हुए।

विद्यासागर ने मृत्यु से पूर्व जो वसीयतनामा लिखा है उसमें दो मदें थीं, १—अपनी सम्पत्ति की आमदनी से ५६१) रु० मासिक खर्च। जिसमें ४५ वृत्तियाँ १०५) रु० की, आवश्यकानुसार ६ वृत्तियाँ और, जो दूसरों को सहायतार्थ थीं। २,२८०) रु० मासिक का खर्च जिसनें १०० रु० गाँव के स्कूल के लिए, ५०) रु० औषधालय के लिए. ३०) रु० अनाथ और निरुपाय लोगों के लिए, और १००) विधवा-विवाह के लिए थे। इससे विचार किया जा सकता है कि उस महापुरुष के जीवन की क्या सदिच्छाएँ थीं और परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति का मरते २ उसने किस प्रकार सदुपयोग किया।

विद्यासागर के जीवन की छोटी से छोटी घटनाएं उनके महापुरुष होने का प्रमाण देती हैं। हम यहाँ पर दो चार घटनाएं देते हैं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। नौ वर्ष की अवस्था में जब वे कलकत्ते आरहे थे। रास्ते में सड़क पर थोड़े २ फ़ासले पर गड़े हुए शिला-खण्ड गड़े देख कर पिताजी से बोले, "पिता जी, ये पत्थर क्यों जगह २ गड़े हैं ?" पिता ने हँसकर

कहा, "ये व्यर्थ के पत्थर नहीं, माइल स्टोन हैं।" बालक ईश्वरचन्द्र ने पूछा,—"माइल स्टोन किसे कहते हैं।" पिता ने कहा—"यह अङ्गरेज़ी शब्द है।" आधे कोस का एक मील होता है। स्टोन कहते हैं पत्थर को। एक २ मील पर एक २ पत्थर गड़ा हुआ है। कलकत्ते से एक मील के फासले पर जो पत्थर गड़ा हुआ है उसमे अँगरेजी का एक खुदा है। यहाँ जो पत्थर गड़ा है उसमें उन्नीस खुदा हुआ है। इसका मतलब हुआ कलकत्ता यहाँ से उन्नीस मील अर्थात् साढ़े नौ कोस है। विद्यासागर ने एक और नौ को खूब ध्यान से पहचाना और प्रति मील पर एक एक अङ्क पहचानते गए। इस प्रकार कलकत्त पहुँचते २ अंगरेज़ी की गिनती पहचानना सीख गए। एक दूकान पर थानों के नम्बर मिलाए जा रहे थे। विद्यासागर ने देख कर कहा—"ये नम्बर तो मैं भी मिला सकता हूँ, और नम्बर मिलाने लगे।" पिता ने आश्चर्य के साथ पूछा—"ये नम्बर तूने कहाँ सीखे?" ईश्वरचन्द्र ने कहा "आज ही रास्ते के मीलों से।" यह सुन कर सब को बड़ा आश्चर्य हुआ और सबने ईश्वरचन्द्र की बड़ी प्रशंसा की।

विद्यासागर किसी का दुःख न सह सकते थे। कष्ट की खबर पाते ही चल देते थे। एक दिन एक मेहतर सवेरे ही रोता हुआ आया। बोला—"मालिक, मेरे घर मे मेहतरानी को हैजा हो गया है, कुछ उपाय कीजिए।" विद्यासागर फौरन दवाओ का बक्स व एक मोढ़ा नौकर को देकर भङ्गी के साथ उसके घर पहुँचे। दिन भर वहीं उसके पास बैठ कर चिकित्सा करते रहे। शाम को उस वक्त घर लौटे जब मेहतरानी की तबियत सुधर गई।

एकबार एक बड़ा आदमी कलकत्ते के दो बड़े आदमियों से मिलने आया। एक महाशय के यहाँ वह चार दिन लगातार गया

पर वे न मिले। चौथे दिन दोपहर तक उसके दरवाजे पर बैठे उसका इंतिज़ार करते रहे मांगने पर भी पीने को पानी तक न मिला। तब तो बड़े क्रोध से ।आँखे लाल किए विद्यासागर के घर पहुँचे। विद्यासागर भोजन करके खाली धोती पहिने नङ्गे बदन बाहर खड़े थे। वह महाशय जाते ही इन्हें देख कर रूखे भाव से बोले-"विद्यासागर से मुलाकात होगी?" विद्यासागर ने कहा—"हाँ, होगी क्यो नही, बैठिए।" वह बोला—"होगी क्यों नहीं की बात नहीं। एक को देख लिया बस इनको भी देखलूँ और चल दूँ अपने घर को।" विद्यासागर—"आप हुक्का पीते हैं?" कह कर हुक्का पीने को दिया। हुक्का पीकर ज़रा नर्म हुआ देख कर विद्यासागर ने पूछा—"भोजन हुआ है या नही?" आगन्तुक—"भोजन की ज़रूरत नहीं तुम ज़रा उन्हे बुला दो। भेंट करके चल दूँगा।" इसी बीच में विद्यासागर के इशारे से कुछ जल-पान के लिए आ गया। बहुत कहने सुनने पर जल-पान करके बोला—"एक बार उन्हे बुला दो, देख तो लूँ फिर दुबारा ऐसी भूल न करूँगा।" विद्यासागर ने नम्रतापूर्वक कहा—"कहिए, क्या आज्ञा है? विद्यासागर तो यही है।" परिचय पाते ही वह हका बका सा उनको ओर ताकने लगा और लज्जित होकर बोला—"मैं—मैं—आपको—पहचाना—नही—क्षमा—करें।"

सफर में विद्यासागर थोड़ा सामान होने पर खुद लेकर चलते थे, कुली आदि न करते थे। एकबार गाड़ी के समय वे एक मैला सा डुपट्टा कांधे पर डाले प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। गाड़ी आ गई। मुसाफिर उतरे। एक बाबू ने अपना छोटा सा हैंड बेग नीचे उतार कर इनकी ओर पुकारा—"कुली, ओ कुली" इधर आओ। सा। . ने पास आकर कहा—"कहिए"। बाबू—"ओ, हमारा

बेग ले चलो तुम कुली है ?" विद्यासागर ने बिना कुछ कहे बेग उठा लिया और चल दिए। स्टेशन के बाहर आने पर बाबू—(छड़ी हिलाते हुए) "टुम मि० विद्यासागर का घर जानता है ? वह कितनी दूर है, हमको वहाँ पहुँचा देगा ?" विद्यासागर—"हाँ, जानता हूँ, चलिए पहुँचा दूँ" कह कर चल दिए। रास्ते में विद्यासागर ने कहा—"आप उनके यहाँ क्यों जा रहे है ?" बाबू—"हम सुनता है वो बहुत बड़ा आदमी है, हम उसे देखना मांगता है'। घर के दरवाज़े पर पहुँच कर विद्यासागर ने बेग उतार कर रख दिया। बाबू पाकेट से चार पैसे निकाल कर उन्हें देने लगा। उन्हों ने कहा "इनकी जरूरत नहीं।" बाबू ने दो पैसे और निकाले "तुम बड़ा झगड़ालू आदमी हाय" कहते हुए छै पैसे देने को हाथ बढ़ाया। विद्यासागर ने कहा—"नहीं, पैसे नहीं चाहिये।"

बाबू—"तब क्या माँगता है ?" विद्यासागर ने नम्रता-पूर्वक कहा—"आप छोटा २ कार्य खुद करते हुए न लजाया करें, विद्यासागर यही चाहता है।" थोड़ी देर तक वह स्तंभित सा उनके मुख की ओर देखता रहा फिर कुछ समझ कर पैरो पर गिर पड़ा।

एकबार विद्यासागर ने छै लिहाफ बनवाकर घर भेजे। माता उन्हे देख कर बहुत खुश हुई। दो तीन दिन बाद उन्होंने पड़ोसियों के घर जाकर देखा—द्रव्य न होने से वे लोग जाड़े से सिकुड़ रहे हैं। माता ने छहो लिहाफ लाकर उन लोगो मे बाँट दिए और विद्यासागर को लिखा—"बेटा, वह लिहाफ तो मैंने शीत-सताए ग़रीबों को बाँट दिए। दूसरे भेज देना।" ईश्वरचन्द्र ने बहुत प्रसन्न होकर लिखा, 'ऐसे लोगों के लिए, घर के लिए और तुम्हारे लिए कितने लिहाफ चाहिये—लिखो, मैं भेज दूँ।"

विद्यासागर हमेशा सादे वेश में ही रहते थे, कालेज में

भी चट्टी पहन कर और दुपट्टा ओढ़ कर पढ़ाने जाते थे। छोटे लाट ने उनसे सनम्र अनुरोध किया कि आप कालेज में कालेज के (ड्रेस) वेश मे आया करें। कई वार कहने पर ४—५ दिन वे पतलून, चोगा-चपकन पहन कर पगड़ी देकर कालेज गए। पर उससे उन्हे कष्ट होने लगा और असुविधा मालूम होने लगी। पाँचवें दिन कालेज वन्द होते समय उन्होंने साहव के पास जाकर कहा—"यही आपकी मेरी आखिरी भेंट है।" लाट साहव ने विस्मित होकर पूछा—'यों पंडितजी क्या हुआ।" स्वाधीनचेता विद्यासागरने मुसकुराते हुए उत्तर दिया—"क़ैदियो की तरह यह कष्ट-कर पोशाक पहन कर स्वांग वना कर आप से मिलने आना मेरे लिये असम्भव है।" कुछ सोच कर लाट साहव ने कहा—"पण्डित जी, जिस पोशाक मे आपको सुविधा हो उसी में आया कीजिये।" उसके वाद वे फिर उसी अपने पुराने वेश मे जाने लगे।

कालेज से नौकरी छोड़ते समय छोटे लाट ने वहुत समझाते हुए उनसे कहा—"आपने इतना वड़ा समाज-संस्कार का कार्य उठाया है; नौकरी छोड़ देने से अर्थाभाव के कारण आपको वड़ा कष्ट होगा।" विद्यासागर ने साहस के साथ उत्तर दिया—"मैं विपत्तियों को नहीं डरता न कष्टों को कष्ट समझता हूँ।"

अपनी स्वभाविक स्वाधीन-प्रियता के अनुसार उन्होने अपने इस्तीफे मे लिखा था—"मेरे जीवन का अन्तिम समय उसी पवित्र कार्य (स्वदेश के नर नारियो की उन्नति, सेवा और साधारण शिक्षा प्रचार) में लगेगा और उस महान व्रत का उद्यापन मेरी चिता के भस्म के साथ होगा।" इस वाक्य से पता चलता है कि विद्यासागर का हृदय कितना विशाल था उनका उद्देश्य महान और उच्च था। वे कितने दृढ़ निश्चयी थे।

सचमुच उनका व्रत पूर्ण हुआ। जैसी प्रतिज्ञा थी उसी के अनुकूल पूर्ण हुआ।

अब ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का आज्ञा-पालन देखिये। जिस समय वे कालेज में प्राफेसर थे; उनके भाई का विवाह हुआ। माता जी की आज्ञा विवाह में शामिल होने का हुई। विद्यासागर ने छुट्टी मांगी परन्तु प्रिंसिपल ने देने से इन्कार किया। विद्यासागर विचार मे पड़ गए। फिर मातृ-आज्ञा का विचार आते ही साहब से जाकर बोले—"माता की आज्ञा है, घर तो मुझे जाना ही होगा और आज ही जाना होगा। छुट्टी दीजिये या इस्तीफ़ा लीजिए"। मातृ-भक्ति से सन्तुष्ट होकर साहब ने छुट्टी देदी। विद्यासागर एक नौकर को साथ लेकर चल दिए। वर्षा ऋतु थी। रास्ते ख़राब हो गए थे। चलना कठिन था। कुछ दूर चल कर वे उस दिन एक नदी के किनारे ठहर रहे। दूसरे दिन नौकर को चलने में असमर्थ जान कर लौटा दिया। दमोदर नदी का वेग बड़े जोरों का था; दूर तक पानी ही पानी दिखाई देता था। नाव दूसरे किनारे पर थी। आवेश मे आकर हाहाकार करते हुए वे नदी मे कूद पड़े और तैर कर पार हो गए। एक और नदी मिली उसे भी पार किया। चलते चलते शाम हो गई। भयानक जङ्गल, लुटेरों का डर; पर साहसी विद्यासागर रुके नही चलते ही गए। दो घण्टे रात गए घर पहुँचे। बारात चली गई थी, घर मे सन्नाटा था। माता बिना भोजन किये पुत्र की चिन्ता मे अधसोई सी बैठी थी कि ईश्वर की आवाज़ कान मे पड़ते ही जान सी आगई। उठ कर छाती से लगा लिया और साहस की आश्चर्य के साथ प्रशंसा करने लगी।

विद्यासागर मे अभिमान तो नाम मात्र को न था। वे दूसरों को भी समान भाव से ही देखा करते थे। उनके एक बहुत बड़े

प्रतिष्ठित जमींदार-मित्र के घर के पास ही एक ग़रीब तेली का घर था। विद्यासागर से उससे पहले की जान पहचान थी। एकदिन वे उसकी दूकान के नीचे चटाई के टुकड़े पर बैठे हुए उससे बातें कर रहे थे। इतने मे उनके मित्र जमींदार बाबू की फिटन वहाँ से निकली। विद्यासागर को देखकर जमीदार महोदय बड़े असमञ्जस में पड़ गए। एक ओर जैसे बिना दण्डवत प्रणाम किए विद्यासागर को उपेक्षा करके जाना असंभव था वैसे ही दूसरी ओर गरीब, मामूली तेली की दूकान पर बैठे हुए उनको प्रणाम या प्रतिष्ठा करने मे भी अपना अपमान मालूम होता था। लेकिन मजबूर थे। उन्हे अपमान की बात करनी ही पड़ी। दूसरे दिन मिलने पर विद्यासागर ने कहा—"कल तो आप बड़ी द्विविधा मे पड़ गए थे?" उन्हों ने उत्तर दिया—"आप रास्ते-गली मे जहाँ जिसके साथ होता है बैठ जाते हैं इससे बड़ी लज्जा मालूम होती है।" वीर विद्यासागर ने फौरन उत्तर दिया—"लज्जा मालूम होती है? तब तो मेरे साथ जान-पहचान न रखना ही अच्छा है; इससे सब झगड़ा मिट जायगा। आप को गली २ अपमानित न होना होगा। वह आदमी ग़रीब होने से क्या आप की अपेक्षा कम आदर का पात्र हो सकता है?" जमीदार महाशय बेचारे निरुत्तर हो गए और क्षमा माँगने लगे।

मनुष्यमात्र के लिए विद्यासागर की दया का द्वार खुला हुआ था। मनुष्य क्या, पशु-पक्षी तक उनसे प्रेम करते थे। एक बार उनके एक परिचित मित्र मिलने आए। विद्यासागर ने उन्हें कुछ नारङ्गी व सेब आदि खाने को दिए। वे उन्हे खा २ कर जब छिलके खिड़की के बाहर फेंकने लगे तो विद्यासागर ने कहा—"कृपा कर उन्हें बाहर न फेंकिए इन्हे भी खाने वाले यहाँ मौजूद हैं।" मित्र महाशय ने सन्नाटे में आकर आश्चर्य से पूछा—"इन्हे

भला कौन खाएगा ?" उन्होंने कहा-"आप यहीं खिड़की के बाहर रख दीजिए। खानेवाले खा ही लेंगे।" खा पीकर वे बड़ी देर तक वहीं बैठे रहे पर उन छिलकों को खाने कोई न आया, तब बोले—"आप तो कहते थे इनके खानेवाले भी आ जायंगे, कहिए कोई भी तो नहीं आया ?" विद्यासागर ने हँस कर उत्तर दिया—"आपकी चोगा-चपकन की तड़क भड़क देखकर वे डर रहे हैं इसी से नही आते। आप हट जाएँ, देखिए अभी आते हैं।" मित्र महाशय हटकर जरा दूर जा खड़े हुए। विद्यासागर खिड़की के पास जा खड़े हुए। उन्होंने देखा—बहुत से कौवे काँव २ करते हुए आए और चिरपरिचित की तरह उनके हाथ से छिलके ले लेकर खाने लगे।

एक बार विद्यासागर जब स्कूल-इन्स्पेक्टर थे—एक स्कूल का मुआइना करने गए। उनका नाम और उनको कीर्ति लोगो ने पहले ही सुन रक्खी थी। किन्तु देखा न था। तमाम गाँव उनके आने की, और दर्शन करने की बाट जोहने लगा। रास्ताएँ सजा दी गईं। जगह २ लड़के, जवान, बुड्ढे, उनके आने को उत्सुकता में, झुंड के झुंड, इधर उधर घूमने लगे। घरों की खिड़कियो में, दरवाजों के पास, छतो के ऊपर बल्कि बूढ़ी औरते तक रास्ते में उनके दर्शनों को खड़ी हुई थी चारों ओर अपूर्व उत्साह छाया था। इतने में शोर मचा "विद्यासागर आगए, विद्यासागर आगए।" लोग अभ्यर्थना करने लगे। आदमी पर आदमी टूट पड़े, किन्हीं ने देख पाया किन्हीं ने नहीं। इतने ही में हल्ला मचा-"वे तो आगे निकल गए।" स्त्रियो को तो उनके आने का विश्वास ही न हुआ; इसका मुख्य कारण था उनके सीधे-सादेपन के साथ उनका मामूली पहराव। एक वृद्धा स्त्री से न रहा गया। उसने आगे बढ़ कर उस मंडली मे जहाँ विद्यासागर खड़े थे घुस-

कर उन्हीं के पास खड़ेहुए एक वृद्ध आदमी से पूछा—"क्योंजी, विद्यासागर कहाँ है ? क्या वे नहीं आये ?" वृद्ध ने इशारा करके कहा—"यही तो विद्यासागर हैं।" वृद्धा आँखें फाड़ कर एकटक पहिले तो विद्यासागर की ओर देखती रही, फिर बोली—"ये ही मोटी धोती मोटी चादरवाले विद्यासागर हैं ? इन्हीं को देखने के लिए हम लोग इतनी देर से घाम मे खड़ी २ तप गईं। न गाड़ी-घोड़ा है, न घड़ी-छड़ी है, न चोगा-चपकन है। यह तो हम लोगो ही की तरह हैं।"

विद्यासागर में स्वाभिमान और तेजस्विता वेहद थी। वे एक दिन किसी विशेष काम से हिन्दू-कालेज के प्रिन्सिपल कार साहेव से मिलने गए। कार साहव मेज़ पर पैर फैलाए, आधे लेटे हुए, कुर्सीपर वैठे रहे। विद्यासागर को खड़ा रहना पड़ा। विद्यासागर ने चुपचाप उस अपमान को सह लिया और अपना काम करके घर लौट आए। लेकिन अपमान की बात चित्त से न भूली। दश पाँच दिन बाद ही किसी कार्य से कार साहव को विद्यासागर के घर आना पड़ा। विद्यासागर को बदला चुकाने का मौका मिल गया। वे भी साहव से मिलने मे उसी तरह मेज़ पर टाँगे फैलाए कुर्सी पर डटे रहे। साहव बड़े कुपित हुए। उन्होंने यह हाल मैट साहव से कहा। मैट साहव ने विद्यासागर से जवाब तलब किया। विद्यासागर ने कहा—"मैंने सोचा था कि हम काले आदमी हैं, इसी से असभ्य हैं, दूसरे देश के रहने वालों से सभ्यता सीखते हैं। साहब का बर्त्ताव देख कर मैंने समझा कि किसी के आने पर उसकी इसी प्रकार अभ्यर्थना की जाती है। मैं यह शिष्टाचार कार साहब से ही सीख कर आया था और मौक़ा पड़ने पर साहब को वह सम्मान दिखलाने मे कुछ भी तो कृपणता नही की। इसमें यदि मुझ से कोई दोष हुआ हो

तो उसके ज़िम्मेदार साहब ही हैं। मेरा दोष नहीं।" विद्यासागर से अत्यन्त प्रसन्न होकर मैट साहब ने कार साहब को लिखा कि आप विद्यासागर से मिलकर मित्रता कर लें।

एक दिन एक ग़रीब भिखारी का लड़का विद्यासागर के पास आकर बोला—"बाबू जी एक पैसा दे दीजिए।" उन्होंने कहा—"यदि दो पैसा दूँ तो क्या करेगा?" उसने कहा—"भर पेट खा लूँगा" उन्होंने कहा, "यदि एक आना मिले।" उसने कहा—"दो पैसे का सौदा मैं खाऊँगा" दो की मां को ले जाऊँगा। उन्होंने कहा—"दो आने दूँ तो?" उसने कहा—"एक आना कल के लिए रख छोड़ूँगा।" उन्होंने कहा—"चार आने दूँ" उसने कहा—"दो आने के आम लाकर बेंचूँगा, दो आने खाने को रक्खूँगा।" उसके उत्तरों से विद्यासागर बहुत प्रसन्न हुए और उसें एक रुपया दिया। उनके यहाँ से कभी कोई विमुख तो लौटता ही नहीं था।

सचमुच ईश्वरचन्द्र केवल विद्या-सागर ही नहीं, दया-सागर भी थे।

५--श्री स्वामी विवेकानन्द

हात्माओ का वास-स्थान ज्ञान है। मनुष्यो की जितनी ज्ञानवृद्धि होती है, महात्माओं का जीवनकाल उतना ही बढ़ता जाता है। उन के जीवन काल की गणना मनुष्य शक्ति के वाहर है क्यो कि ज्ञान अनन्त है, अनन्त का पार कौन पा सकता है। महात्मा लोग एक देश मे उत्पन्न होकर भी सभी देश अपने ही बना लेते है; सब समय उन के ही अनुकूल हो जाते हैं।

श्री स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही महापुरुषो में हैं।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १८६२ ई० मे कलकत्ता के समीपवर्त्ती सिमूलियां नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम विश्वनाथ दत्त था। जिस समय स्वामी विवेकानन्द बंगाल में 'अटर्नी' हुए तभी उन के पिता ने सन्यासाश्रम मे प्रवेश करके गृह-त्याग कर दिया। उसी आनुवंशिक संस्कार के वीज स्वामी विवेकानन्द के हृदय मे भी जमे हुए थे जिन्हों ने अवसर पाकर अपना स्वरूप संसार पर प्रकट किया।

स्वामी जी का पैदाइशी नाम वीरेश्वर था परन्तु प्यार के कारण घर के लोग, अड़ोसी पड़ोसी सब उनको 'नरेन्द्र' कहते थे। नरेन्द्र सुडौल, गठीला शरीर, गौर-वर्ण, मनमोहक बड़ी २ आंखें और तेजस्वी मुख वाला होनहार बालक था। उसका चित्त पढ़ने में बहुत

कम लगता था, दिन रात खेलना, अपने साथ के लड़कों को तंग करना, खूव ऊधम मचाना यही उसके विशेष प्रिय कार्य थे। कोई ऐसा दिन नही जाता था जिस दिन माता-पिता या गुरुजन को नरेन्द्र की दश पाँच शिकायतें सुनने को न मिलती हों। वह ज्यों २ वढ़ता जाता था हँसोड़ और उपद्रवी होता जाता था। अपने सहपाठियों से मारपीट करना, शिक्षकों से वहस मुबाहसा करना उसका नित्य का काम था।

वुद्धि तीव्र थी, पढ़े हुए पाठ को याद कर लेना नरेन्द्र के लिए खेल था। सहपाठियों को वह उनके पढ़ने में सहायता दिया करता था। तंग किये जाने पर भी उसके सहपाठी, वादाविवाद से खीझ जाने पर भी उसके शिक्षक, उससे द्वेष न मानकर प्रेम करते थे और उस को आदर की दृष्टि से देखते थे। नरेन्द्र को तत्त्व ज्ञान संवन्धी पुस्तकों से विशेष प्रेम था। कोर्स की पुस्तको मे इतना आनन्द न आता था जितना तत्त्व-ज्ञान विषयक पुस्तकों मे। एक वार तत्त्व-ज्ञान का एक आलोचनात्मक लेख लिख कर प्रसिद्ध पाश्चात्य-तत्त्व-वेत्ता मीमांसक हर्वर्ट स्पेन्सर के पास भेजा था, उस लेख को देख कर हर्वर्ट साहव ने दाँतों तले अंगुली दवाई और नरेन्द्र को एक उत्तेजना-पूर्ण पत्र लिखते हुए लिखा—"आप अपना सतत उद्योग निरन्तर जारी रक्खें, वन्द न करें। हमें पूर्ण आशा है कि भविष्य मे संसार आप से उपकृत होगा।" आगे चल कर सचमुच नरेन्द्र ने अपने अदम्य उत्साह, अधिक परिश्रम, विचित्र वुद्धिमत्ता, अपूर्व स्वार्थ-त्याग और प्रेम-वल से संसार को अपना दास वना लिया।

जव उन्होंने वंगला के साथ २ संस्कृत और अंगरेज़ी मे भी पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली, वी० ए० पास कर लिया, उसी समय उन्हे पितृ-वियोग सहना पड़ा। गृहस्थी का कुल भार नरेन्द्र

के ही कंधों पर आ पड़ा। नौकरी में उनका चित्त न लगता था। दिनों दिन सांसारिक झंझटों से निवृत्ति की प्रवृत्ति ही चित्त मे बढ़ती जा रही थी। इधर माता जी उनके व्याह के लिए प्रयत्न-शीला और व्याकुल हो रही थीं। उन्होंने प्यारे पुत्र के लिए बहुत प्रयत्न किया कि वह विवाह कर ले पर नरेन्द्र तो कामिनी काञ्चन को तृण तुल्य असारता का यथार्थ रूप पूर्ण तरह से समझ चुके थे। वे ब्रह्मचर्य पालन के कट्टर पक्षपाती थे और अपने को सदैव उसी स्वरूप में देखना चाहते थे। वे लन्दन से भेजे हुए अपने एक पत्र में लिखते हैं :—

"मुझे ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता है जिन की नसें लोहे की हों, ज्ञान-तन्तु फौलाद के हों और अन्तःकरण वज्र के हों। क्षत्रियो का वीर्य और ब्राह्मणों का तेज जिन में एकत्रित हुआ हो, मुझे ऐसे नरसिंह अपेक्षित हैं। ऐसे लाखों नहीं, करोड़ो बालक मेरा दृष्टि के सामने है, मेरी आकांक्षाओ को पूर्ण करने के अंकुर स्पष्टतया उन मे दिखलाई पड़ रहे हैं। परन्तु हा! उन सुन्दर बच्चों का बलिदान होगा। होमकुण्ड में उनकी पूर्णाहुति कर दी जायगी। विवाह के होमकुण्ड की धधकती हुई ज्वालायें चारो ओर से घेरे हुए खड़ी हैं इन्ही ज्वालाओ के कुण्ड में मेरे सुकुमार बच्चे निष्ठुरता पूर्वक झोंक दिए जायंगे। हे दयालु! इस जलते हुए अन्तःकरण से निकलने वाले करुणोद्‌गार क्या तुम्हे नहीं सुनाई देते? यदि सत्य के लिए कम से कम ऐसे सो सुभट भी संसार की विशाल रण-भूमि में उतर आवें तो कार्य पूर्ण हो जाय। प्रभो! तुम्हारी इच्छा होगी तो सब कुछ हो जायगा।"

बंगाल प्रान्त में उन दिनो 'ब्रह्म समाज' सम्प्रदाय का प्रचार दिनों दिन बढ़ रहा था। नरेन्द्र पहले ब्रह्मो समाज में

शामिल हुए। थोड़े ही दिनों के पश्चात् उन्होंने जान लिया कि इस धर्म में कोई सार नहीं ; केवल ऊपरी चमत्कार, आडम्बर मात्र है। अस्तु अब वे ईसाई व मुहम्मदी तत्वों की ओर झुके ; धर्मग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भ किया, पर उन से भी शान्ति प्राप्त न हुई। सनातन धर्म पर उन्हें श्रद्धा न थी, वे लकीर के फकीर न बनना चाहते थे तथापि अन्वेषण-दृष्टि से एक बार फिर सनातन धर्म के वेदान्त, उपनिषद, धर्म-शास्त्र का गहरी दृष्टि से अध्ययन प्रारम्भ किया।

जो शान्ति उन्हे पहले प्राप्त न हुई थी वही शान्ति वैदिक ग्रन्थो के अध्ययन से अब प्राप्त होने लगी। शनैः २ उनका दृढ़ निश्चय होता गया कि संसार मे यदि कोई धर्म शान्ति दे सकता है तो वह एक सनातन धर्म है। संसार में इसी धर्म के प्रचार की आवश्यकता है। यही एक धर्म सदैव निर्बाध रूप से सर्व जीव हितकारी हो सकता है। नरेंद्र अब तक जिस भ्रम जाल में फँसकर छटपटा रहे थे, हिन्दू शास्त्रों से वह जाल छिन्न भिन्न हो गया। अपना कर्त्तव्य पथ उन्हे दृष्टि-गोचर होने लगा। सद्गुरु कृपा की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। इधर उधर साधु संग करना प्रारम्भ किया। कोई झूठ हीं कह दे कि अमुक स्थान पर एक योगी महात्मा आए हुए हैं तो नरेन्द्र सब कार्य छोड़ कर तत्काल ही वहाँ पहुँचते थे। कोई साधु महात्मा मिलता तो उस से भाँति भाँति के प्रश्न करके उसे घबराहट मे डाल देते थे। इस से लोग उन्हे दुराग्रही, कपटी, कुतर्की आदि नाना उपाधियों से विभूषित करने लगे थे। कोई २ महात्मा तो हठात् उन को परास्त करने की इच्छा से जाते और मुह की खाकर लौट आते थे। परन्तु नरेन्द्र की तो गुरु-दर्शन

की प्रबल अभिलाषा थी। गुरु मिलता कैसे न ? " जाको जा पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।"

उन्हीं दिनो एक पहुँचे हुए महात्मा श्री स्वामो रामकृष्ण जी परमहंस कलकत्ता के समीप दक्षिणेश्वर नामक स्थान में रहते थे। वे स्वत तो सदैव ब्रह्म-लीन रहते ही थे परन्तु जिज्ञासु को भी अपनी अमृतमयी वाणी से तृप्त कर देते थे। नरेन्द्र के एक सम्बन्धी एक दिन नरेन्द्र को वहाँ चलने के लिए वाध्य करने लगे। 'आप जाकर दर्शन करें मेरे चलने से उनके; प्रति आपकी श्रद्धा कम हो जायगी' कह कर नरेन्द्र ने उन्हे टालना चाहा पर अन्त में उन के विशेषाग्रह से जाना ही निश्चय किया।

कुछ बात चीत होने के अनन्तर "भगवन्, आपने ईश्वर सिद्ध तो कर दिया है परंतु कभी देखा भी है ?" नरेन्द्र ने दिल्लगी भाव से पूँछा। "हाँ, मैंने ईश्वर देखा है तुम्हे भी दिखला सकता हूं" परमहंस ने गंभीर भाव से उत्तर दिया। थोड़े समय बाद उपस्थित लोगों के चले जाने पर परमहंस ने उन को समाधि लगा दी और नरेन्द्र को दिव्य दृष्टि प्राप्त हा गइे। नरेन्द्र की चिरेप्सित अभिलाषा पूर्ण हुई। वे परमहंस रामकृष्ण के सच्चे शिष्य बन गए। कभी २ बड़ी २ सभाओ तक मे नरेन्द्र, गुरु-स्मरण करते हुए उनके चरण में लीन हो जाते थे। एकबार जन समुदाय मे गुरु के प्रति उनके उद्गार थे "परमहंस रामकृष्ण मेरे हैं, मैं उनका हूं। माता, पिता, गुरु, भ्राता, इष्टदेव, मन आत्मा, प्राण, स्वामी वे ही मेरे सब कुछ है। मेरे सद्गुण उनके है और दुर्गुण मेरे हैं; मुझे उन्हीं के सहवास मे शान्ति मिली है।"

नरेन्द्र के सांसारिक वंधनों से मुक्त होने मे बाधक थी उनकी पुत्र-वत्सला माता। मातृ-भक्ति का उद्रेक संन्यास ग्रहण कर उन्हें अधिक दुखी न करना चाहता था।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण महाराज के निर्वाण प्राप्त करने पर, माता से किसी प्रकार आज्ञा ले, नरेन्द्र ने संन्यास ले ही लिया और संसार में गुरु-मत प्रचार तथा सनातन धर्म को पुनर्जागृत करने का प्रण किया। अब से वे स्वामी विवेकानन्द नाम से नए रूप में आविर्भूत हुए।

पैर मे सादा देशी जूता, कमर में कोपीन, शरीर पर गेरुआ अंगरखा और सिर पर साफा धारण किया। क्या देश क्या विदेश सभी जगह वे एक ही वेश से घूमे; हाँ, सर्दी के कारण विदेश मे बजाय सूती के ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। उन के इस वेश से विदेश मे प्रायः लोग उनकी खिल्ली उड़ाया करते थे।

एक वार अमेरिका मे किसी पथ से होकर जा रहे थे तो एक सभ्य पुरुष ने छड़ी से उनका साफा दूर उछाल दिया।

"आप जैसे सभ्य पुरुष ने यह कष्ट क्यों उठाया ?" स्वामी जी ने पूंछा।

उसने कहा—"भला आपने यह विचित्र वेश क्यों धारण किया है ?"

"मै वहुत दिनों से इस देश की सभ्यता की प्रशंसा सुनता था इसी से इस को देखने की इच्छा से आया था" स्वामी जी ने कहा महाँ की "सभ्यता का पहला पाठ आप ही ने मुझे पढ़ाया।"

स्वामी जी के कथन से वह बहुत लज्जित हुआ और क्षमा मांगते हुए घर की राह ली।

संन्यास लेने पर स्वामी जी ने एकान्त वास सेवन कर योगाभ्यास किया। विदेशो में भी वे जब कब एकान्त वास करते थे। अद्वैतवाद के प्रचारार्थ वे चीन, जापान गए। वहां से लौट कर

भारत के इलाहाबाद बनारस, पूना, मद्रास आदि नगरों में घूमे। समस्त मानव जाति के प्रति सब भेद भावों को भुलाकर समान दृष्टि से धर्म प्रचार करना ही वे सर्वोपरि देश-सेवा समझते थे।

वे कहते थे—अपने ज्ञान का उपयोग संसार को करने दो, अन्यों के सीखने योग्य गुणो को तुम सीखो। आकुण्ठित विचारो को हृदय मे रखना मृत्यु का आह्वान है। जो दूसरों को स्वतंत्रता नही दे सकते वे स्वयं स्वतंत्र होने योग्य नही।

स्वामी जी रामेश्वर से मध्य भारत की ओर आ रहे थे। रास्ते में रामनाथ के महन्त से भेंट हुई। महन्त ने स्वामी जी की विद्वत्ता पर मुग्ध हो कर उन से अमेरिका के सर्वधर्म परिषद् में भारत के प्रतिनिधि स्वरूप जाकर हिन्दू-धर्म प्रचार को प्रार्थना की। स्वामी जी तो तयार ही थे, सहमत हो गए। और मद्रास आदि मे घूम कर कुछ चन्दा एकत्रित किया। विदेश का खर्च, थोड़ा चन्दा, अमेरिका पहुँचते २ रुपया खतम हो गया। कोई दूसरा पुरुष होता तो अवश्य घबड़ा जाता पर जिसकी चिन्ता ईश्वर को है उसे कैसा सोच। रास्ते मे एक वृद्धा स्त्री से भेंट हो गई। वह स्वामी जी का विचित्र वेप देख कर 'इस पूर्वीय जीव से कुछ विनोद ही होगा' विचारती हुई उन्हे अपने घर ले गई। परन्तु घर मे विनोद के वदले तत्वज्ञान का उपदेश स्वामी जी के मुख से सुन कर वह स्तंभित हो गई। अल्प समय मे ही अमेरिका के समाचार पत्रों मे स्वामी जी को कीर्ति-कथा पढ़ी जाने लगी।

एक दिन एक अहम्मन्य तत्त्वज्ञानी स्वामी जी को परास्त करने की इच्छा से उनके पास आया परन्तु उनकी असाधारण विद्वत्ता और वक्तृत्व शक्ति पर मुग्ध होकर उसी समय उनका शिष्य हो गया। शिकागो की सर्व-धर्म-परिषद मे स्वामी जी जब आये हुए

प्रतिनिधियों का अपनी रसमयी वाणी से स्वागत करते थे तो स्वामी जी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा हो जाती थी।

परिषद में जिस दिन स्वामी जी का भाषण होने को था, सवेरे से ही शहर की दीवालो पर लगे हुए विज्ञापन आगन्तुकों को बतला रहे थे, "एक तेजस्वी विद्वान, अद्वितीय हिन्दू सन्यासी का व्याख्यान ४ बजे सुन कर अपने को तृप्त कीजिए।" सभा-भवन मे तथा उसके चारो ओर इतनी ठसाठस भीड़ थी कि तिल रखने की जगह न थी।

यथा समय स्वामी जी व्यास-पीठ पर आ उपस्थित हुए। उनकी तेजस्वी और मनोहर मूर्त्ति देख कर द्रष्टाओं की आंखें चका-चौंध हो गईं। सब के तुमुल जय घोष के साथ 'ओ३म् तत्सत' का गीत गाते हुए स्वामी जी ने मनोमुग्धकारी भाषण शुरू किया और अनेक युक्ति तथा प्रमाणो से साबित कर दिया कि एक हिन्दू धर्म ही ऐसा सार्वभौम धर्म है जिसे मानव जाति स्वीकार कर सकती है।

अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र अभिमान के साथ जय घोष करते हुए लिखने लगे—"गेरुआ वस्त्रधारी यह हिन्दू धर्मोपदेशक ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ जन्म सिद्ध वक्ता है। ऐसे प्रतिभाशाली देश मे मिशनरियो का भेजना मूर्खता है।"

गगा की धवल धारा की तरह स्वामी जी की कीर्ति अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि मे फैल गई। न्यूयार्क मे 'रामकृष्ण मठ' नामक एक संघ स्थापित हुआ जिस में अब तक ध्यान, धारणा, प्राणा-याम की शिक्षा दी जाती है।

अमेरिका जाने से पूर्व भारतीय जिनका नाम तक नही जानते थे, लौटने पर कोलम्बो (सीलोन) में उनके स्वागत के लिए दश सहस्त्र पुरुष एकत्रित हुए और स्वामी जी का खूब स्वागत किया।

रामनाथ के महन्त ने हाथी-घोड़ो, गाजों-वाजों, ध्वजा पताकाओ, वाद्यों, रोशनी व अपार भीड़ के साथ उनका अपूर्व स्वागत किया और पाश्चात्त्य देशो मे दिग्विजयी होने के कारण अपने यहां एक विजय-स्तम्भ स्थापित किया।

स्वदेश मे स्वामी जी ने मद्रास, वंगाल, उत्तर भारत और वंवई आदि के भिन्न २ स्थानों मे घूम २ कर वहुत से व्याख्यान दिए। कितने ही स्थानों मे संस्थाएँ खोलीं जिनका मुख्य कार्य धर्म-प्रचार और ग़रीबो की सेवा करना है।

सन् १९०२ की ४ जौलाई को स्वामी जी ने नित्य की भांति प्रातः कृत्य करने के पश्चात् योगाभ्यास किया। मध्यान्ह में शिष्यों को पढ़ाया। संध्या समय मुमुक्षुओं से धर्मचर्चा की, वाहर घूमने गए। पहर रात्रि गए तक बात चीत करते २ सहसा कहने लगे— "आज मेरी श्री गुरु-चरण दर्शनों की इच्छा है। नाशमान शरीर मे अमर आत्मा का कार्य कभी नहीं रुकता। देश की इच्छाओ को अव आप लोग पूर्ण करे, ईश्वर आपको सहायता दे" इतना कहने के साथ ही 'ॐ तत्सत्' कहते हुए अन्तिम श्वास छोड़ दी और परमात्मा में लीन हो गए।

स्वामी विवेकानन्द जी वड़े संयत पुरुष थे। अपनी धुन के एक थे। दृढ़ निश्चयी थे। पास घड़ी न रखने पर भी सव कार्य उनके यथा समय ही होते थे। उनमे तीन प्रधान गुण थे— १. नियमितता, २. देश, धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा, ३. स्वार्थ-त्याग पूर्वक अथक परिश्रम।

वे कभी खाली वैठना तो जानते ही न थे। १२–१४ घंटे अभ्यास करना उनका नित्य का कार्य था। उनका सिद्धान्त था कि खाली वैठने से मनुष्य काहिल हो जाता है। खाली वैठने से वेगार करना अच्छा।

एक दिन उनके एक आलसी नौकर ने आकर कहा— "महाराज आप सब को मुक्ति की राह बतलाते हैं पर मुझे क्यों नही बतलाते जो दुनियां के झंझटो से छूट जाऊँ।"

"मुक्ति के लिये उद्योग की आवश्यकता है; यदि तुम कुछ न कर सको तो चोरी ही सीख लो" स्वामी जी ने हँस कर कहा। "खाली बैठने से चोरी आदि सीखना अच्छा क्योंकि उद्योग से ज्ञान होने पर बुरे कर्म छूट जाते हैं।"

वे अपने भारतीय मित्रो को प्रायः लिखा करते थे "कि अब बार २ यह कहने का समय नहीं कि हम ऐसे जगद्विजयी थे, उद्योगी थे. हम संसार के गुरु थे, हम सर्वोपरि थे। अब कैसे हो सो संसार को दिखला दो। अपने कर्तव्य पथ पर बढ़े चलना तुम्हारा कार्य है; यश तो पीछे २ आप दौड़ता है। संसार का भार अपने ऊपर समझो; अपना भार ईश्वर पर छोड़ दो। अन्तःकरण की पवित्रता, धैर्य और दृढ़ निश्चय के साथ सतत उद्योग में निरत रहो। मरने का मोह त्याग दो। कष्टो का सामना करने की, संसार की भलाई करने की, प्रतिज्ञा कर लो और उसका पालन करो। कहो कम, करो ज्यादा तभी सफल होगे।"

एक जगह स्वामी जी अपने एक मित्र के पत्र के उत्तर मे लिखते हैं:—

"तुमने लिखा कि कलकत्ते की सभा मे दश हजार मनुष्यों की भीड़ हुई। यह बड़े आनन्द की बात है। पर सभा में फी आदमी =) एक आना मांगने पर कितने आदमी बैठे दिखलाई पड़ते इसका भी अनुभव करना था। निरुद्योगियों की सभा मे उद्योग की बात जहर मालूम होती है। जो कुछ भी करना है आचरण से सिद्ध करो, व्यवहार से सिद्ध करो, जब तुम्हारा आचरण और व्यवहार लोगो को हितकर मालूम होगा तो वे आप

से आप तुम्हारा अनुकरण करने लगेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि लोगों को धार्मिक जीवन और ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखावें। बस, निन्दा स्तुति, सुख दुख का विचार छोड़ कर उठो और कार्य आरम्भ करो।

एक स्थान पर अपार जन समूह में स्वामी जी का रथ खड़ा किया गया। वहीं स्वामी जी को उपदेश देना पड़ा। आपने कहा— "भगवान कृष्ण ने रथ मे बैठ कर गीता का उपदेश दिया था आज वही सौभाग्य मुझे प्राप्त है। कर्म करना और उद्योग करना मनुष्य के हाथ मे है। फल और यश ईश्वर के हाथ मे है। मैं उस दिन अपने को धन्य समझूंगा जिस दिन आप लोगों का यह उत्साह कार्य रूप मे परिणत होगा।

स्वामी जी की वाणी मे अद्भुत मधुरता और आकर्षण शक्ति थी। श्रोताओ पर उनके उपदेश का बिजली की तरह असर होता था। अपने उपदेश मे वे किसी की बुराई करना तो जानते ही न थे फिर भी हिन्दू धर्म की खूबी का सिक्का लोगो के हृदय में जमा देते थे। लोग मंत्रमुग्ध की भांति उनके व्याख्यानो को सुनते थे। अंग्रेज़ी और संस्कृत पर उनका असामान्य अधिकार था। स्वामी जी का मत था " उदार चरित्तानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। " मनुष्य जाति को वे समान दृष्टि से देखते थे। हिन्दी-संस्कृति पर उन्हें अभिमान था, उस का प्रचार और अध्यात्मज्ञान का प्रचार उनके जीवन का लक्ष्य था। ब्रह्मचर्य की वे साक्षात् मूर्ति थे। देश सेवा, परोपकार, शिक्षा प्रसार उनके कार्यों के मुख्य अङ्ग थे। उनका जीवन संसार के लिए आदर्श था। कोई भी मनुष्य स्वामी जी के उपदेशों के अनुसार चल कर अपना जीवन सफल बना सकता है।

६--श्री जमशेद जी नसरवान जी ताता

रतवर्ष का धनिक समाज साधारणतः दान-धर्म और उपभोग मे धन व्यय करता पाया जाता है परन्तु प्रसिद्ध दानवीर स्वर्गीय जमशेदजो नसरवान जी ताता ने अपनी अतुल सम्पत्ति का उपयोग एक भिन्न रीति से ही किया। भारतवासी ही नही बल्कि अन्य देशीय भी आज तक उनके नाम के साथ उनको दानवीर की पदवी से विभूषित करते हैं। उनका चरित्र हमारे लिए शिक्षाप्रद है।

गुजरात प्रान्त के अन्तर्गत नवसारी नामक प्रसिद्ध स्थान मे सन् १८३९ ई० मे, इस महा पुरुष का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम था सेठ नसरवान जी ताता, जो कि एक साधारण व्यवसायी पुरुष थे। तेरह वर्ष की आयु मे जमशेद जी विद्याभ्यास के लिए बम्बई भेजे गए। पर जो गुलामी की जंजीरों का बन्धक होकर 'हाँ हज़ूर' नहीं करना चाहता था; जिसे वकील बनकर अपने देशवासियों को नहीं लड़ाना था न उनके खून को चूस कर मोटा होना था, ज़मीदार बनकर जिसे दीन किसानों के पैदावार की कच्ची कुर्की नहीं करानी थी, जिसे डंडी मार कर लोगो को नहीं ठगना था; जिसके हाथ मे भारत की कारीगरी के उद्धार का यश था; जिसको अपने अशिक्षित और मन-मोदक खाने वाले देशवासियों को परिश्रम की शिक्षा देनी थी; जिसको निरुद्यमी भारत के लिये पानी से बिजली

पैदा कर साहस और चातुर्य का नमूना दिखाना था ; जिसे एक नई शिक्षा की जरूरत थी, वह इन किताबो का कीड़ा कब हो सकता था ? उसकी प्रवृत्ति कालिज की पढ़ाई की ओर कब हो सकती थी ? उनका चित्त तो व्यापार सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान की ओर ही अधिक लगता था इसी से ताता अधिक समय कालेज में न पढ़ सके। उन्नीस वर्ष की आयु में ही अपने पिता के कार्यालय में कार्य करने लगे।

इसमें सन्देह नही कि किसी भी देश की उन्नति, अवनति उसके व्यापार पर ही अवलम्बित है। बृटिश राज्य के प्रशस्त शासन का मध्य विन्दु व्यापार ही है। जापान की उन्नति का कारण उसका व्यापार है। अमेरिका की स्थिति ही व्यापार की वृद्धि पर है। सम्पन्न देश के व्यापार-क्षेत्र का विस्तृत होना अनिवार्य है। "व्यापारे वसते लक्ष्मी" लक्ष्मी का वास-स्थान व्यापार मे ही है।

देश का कच्चा माल परदेश को भेज कर अल्प लाभ प्राप्त कर लेना वास्तविक लाभ नहीं है न उससे देश संपन्न ही हो सकता है। देश धन-धान्य-पूर्ण तभी हो सकता है जब उसकी अर्थोत्पादक शक्ति के बढ़ाने का सतत प्रयत्न चालू रक्खा जाय। ताता के व्यापारिक विचार का यही दृष्टिकोण था। उन्होने भारतवर्ष की आर्थिक व्याधि की उचित चिकत्सा अपने प्रबल प्रयत्नो द्वारा की और उस मे सफल हुए। एकबार इन्होंने रुई का रोजगार किया। इस में बड़ा मुनाफा हुआ। आगे के लिए और भी अधिक मुनाफे का विचार कर और भी बढ़कर तयारी की। परन्तु दैव-योग से विचार ठीक न उतरा अन्य लोगों के साथ उनको भी बड़ा धक्का लगा। अमीर ग़रीब हो गए। गरीव भिखारी बनगए और

भिखारी भूखों मरने लगे। ताता परिवार को इस क्षति से बड़ा धक्का लगा।

साधारण आत्माएं जिन बाधाओं से घबड़ा कर कर्तव्यच्युत हो जाती है, ध्येय भ्रष्ट हो जाती है; महा पुरुष उनसे ही और दृढ़ होते है तथा अपने को धैर्य की शिक्षा देते है। बात भी ऐसी ही है। यदि विघ्न-बाधाओं का सामना न करना पड़े तो आदमी कमज़ोर हो जावे। उसकी परीक्षा का कभी समय ही न आवे और न वह परखा जा सके। साहसी और निकम्मे की इसी में तो पहचान है। दुखियों का दुख दूर करने के लिये महापुरुषों को पहले दुख और विपत्तियों का पर्वत ढहाना ही पड़ता है। निदान ताता ने हिम्मत न छोड़ी। इंगलैंड का कारोबार बन्द कर दिया लेकिन हिन्दुस्तान का वैसा ही चलाते रहे। थोड़े ही दिन बाद उनकी स्थित फिर संभल गई।

ताता ने सोचा कि काम इस प्रकार करना चाहिये जिससे भारतवर्ष दुनियाँ के बड़े बड़े देशों का मुकाबला कर सके। विलायती कपड़ों का मुकाबला करने के लिए यह देख लेना चाहिये कि उनकी तरक्की का कारण क्या है। देखना है कि किस तरह मज़दूरी मंहगी होने पर भी विलायत के सस्ते और नुमायशी कपड़े बाज़ारों मे पटे रहते हैं। अपने दरिद्र भाइयों के रक्त का पैसा समुद्र पार जाने से कैसे रुकेगा? इसी प्रकार की बातें। विचार कर ताता यहाँ से इंग्लैण्ड को चल दिए।

सौभाग्य से ताता पारसी जाति के थे जो कभी अपने धर्म को अपनी उन्नति मे बाधक नहीं होने देते। वे हिन्दू न थे, नहीं तो पंडित मंडली फौरन ही अपने जीर्ण-शीर्ण धर्मशास्त्रों के पन्ने लेकर और उनके काले अक्षरों के उलटे सूधे अर्थ लगा कर धर्म

की दुहाई देने लगती। आलसी, डाही, और पाखंडी पंचायत, बिरादरी से बाहर ढकेलने का प्रस्ताव पास कर देती।

व्यापारिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए ताता को अनेक बार जापान, अमेरिका, इङ्गलैएड, जर्मनी, फ्रान्स, इटली, आदि देशो का प्रवास करना पड़ा। चीन मे उन्होने "ताता कम्पनी" नामक दूकान खोली जिसकी शाखाएँ न्यूयार्क, पेरिस, जापान, हाँग-काँग आदि मे स्थापित की गईं। तमाम भारत मे भ्रमण करने के पश्चात् उन्होंने नागपुर मे पहले "एम्प्रेस" मिल खोली।

ज़मीन ख़रीदी गई, इमारतें बन गईं। कार्य प्रारम्भ हो गया। "इम्प्रेस" मिल के लिए सर वेजनजी दादाभाई मैनेजर नियुक्त हुए। सर वेजन जी दादाभाई जैसे मैनेजर का मिल जाना भी भाग्य की ही बात हुई। सर वेजनजी इसके पहले जी० आई० पी० रेलवे के ट्रैफिक मैनेजर थे। कपड़े का अनुभव यद्यपि आपको बिलकुल नहीं था। लेकिन आप मे परिश्रम, चातुर्य्य और ईमान-दारी बेहद थी। 'इम्प्रेस' मिल की जो उन्नति हुई उस से कहा जा सकता है कि मैनेजर के चुनाव मे ताता ने कितनी बुद्धिमत्ता की। देश की कला-कौशल की उन्नति चाहने वालों के लिए सर वेजन जी ऐसे कार्य-दक्ष मैनेजरों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी ताता जी जैसे दूरदर्शी पूंजी पति की।

ताता के मस्तिष्क की नई २ उपज और वेजन जी का उसे कार्य रूप में परिणत करके फलरूप में ले आना दोनो ही बातें अद्भुत कुशलता का परिचय देती हैं। मिल ख़ूब चलने लगी और धड़ल्ले से लाभपूर्वक काम होने लगा।

ताता ने इसके बाद इधर उधर अनेक मिलें खोलीं। पर जो सफलता उन्हे 'एम्प्रेस' मिल से हुई वह दूसरी मिलों से नही।

इसका मुख्य कारण था 'किसी कार्य से पूर्व उस के स्थान और फल की पूरी २ जॉच करना'। 'एम्प्रेस' मिल यथार्थ मे भारतवर्ष की अद्वितीय मिल है जिसमे वस्त्र का व्यापार होता है।

भारतवर्ष मे लोहे और कोयले की खानें बहुत है। प्रसिद्ध भूगर्भ-शास्त्र-वेत्ताओं से ताता ने चन्द्रपुर, भण्डारा, बिलासपुर, हलोहारा, आदि स्थानों की वैज्ञानिक रीति से परीक्षा करवाई। इस मे लाखो रुपये खर्च किए। लोहे सम्बन्धी वैज्ञानिक रीतियों को सीखने के लिए ताता अमेरिका गए। वहाँ से आकर लोहे के कल कारखाने आदि खोल दिए जो आज कल खूब फल फूल रहे है और जिनसे देश का लाभ तो हो ही रहा है साथ ही देश का धन भी स्वदेश मे ही रहता है। लोहे को सभी चीजें प्रायः ताता कम्पनी की वनी हुई मिलें।

हमारे देश में विलायती माल अधिकता से आने के कारण यहाँ के लोगो की रुचि-महीन कपड़े की ओर वढ़ती जा रही है, यह देख ताता ने यहाँ भी महीन कपड़ा बुनवाने का प्रयत्न किया। हिन्दुस्तान मे लम्बे धागे की कपास, जिससे महीन कपड़ा बुना जाता है न होने के कारण ताता मिश्र देश को गए और वहां का प्रसिद्ध कपास की खेती-सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया। यहाँ लौट कर उन्होंने सिन्ध और मैसूर में सैकड़ों एकड़ जमीन ली और मिश्र देश की कपास की खेती करके सिद्ध कर दिया कि अनुकूल परिस्थिति से सव कुछ हो सकता है।

ताता ने पाश्चात्त्य देशो से उद्योग धंधे की बात सीखी। जल से विजली निकाल कर रुपये पैदा करने की युक्ति और उसका व्यापार भारत के लिए बिलकुल नई बात है। विजली की कम्पनी ताता के व्यवसायों में सव से अधिक महत्त्व की बात है और इस देश

मे पहली चीज़ है। लोगों क़ा ख्याल था कि संसार में चीरापूंजी के बराबर पानी कहीं नही बरसता। लेकिन अनुभवी लोगो का विचार है कि बम्बई के पश्चिमीघाट पर्वत के मुक़ाबले चीरापूंजी मे बारिश नहीं होती। यह अगाध जल बहकर अरबसागर मे मिल जाता था। कोई इसको उपयोग मे लाने वाला न था।। किसी ने इस गंभीर विषय पर विचार ही नही किया था। इस काम के लिए जमशेद नासरवान जी ताता का जन्म हुआ। मरने के तीस वर्ष पहले से ताता इस विषय पर बराबर सोचते रहे।

यद्यपि उनके जीवन में यह कार्य प्रारम्भ नही हुआ; उनकी मृत्त्यु के पश्चात् उनके सुयोग पुत्रो ने इस कार्य को पूरा किया पर इसमे सन्देह नहीं कि इसका विचार ताता के ही मस्तिष्क की उपज थी। नीव उन्होंने ही डाली थी। १९११ ई० में इमारत बनी और चार वर्ष बाद धाराप्रवाह खोलने का उत्सव किया गया। पहले मालूम होता था कि कम्पनी की पूंजी के लिए काफी रुपया न मिलेगा लेकिन बात की बात मे दो करोड़ रुपये इकट्ठा होगए। पानी एकत्रित करने का इतना बड़ा कारोबार शायद दुनियां मे दूसरा नहीं है। इस कारखाने मे पीपे से इतना पानी निकलता है जितना संसार की प्रसिद्ध टेम्स नदी मे सात महीनें में बहता है।

कितनी प्रसन्नता की बात है कि इस कार्य को न सिर्फ एक भारतीय ने उठाया बल्कि कुल पूंजी भी भारतीयो ही ने लगाई और उसके मालिक भी सब भारतीय ही हैं। वर्षा का पानी पश्चिमीघाट पर्वत पर जमा किया जाता है। वहां से नीचे उतारा जाता है। नीचे उतारकर उससे बिजली पैदा की जाती है फिर वह बम्बई मे पहुँचाई जाती है। एकलाख बीस हज़ार घोड़े—ताक़त की बिजली तयार होती है।

इस देश की शिक्षा की उन्नति के लिए यदि किसी ने सबसे बड़ा उद्योग किया है, तो वे जमशेद जी नसरवान जी ताता ही हैं। उन्होंने सोचा इस देश में प्राचीन काल में शिक्षा मुफ़ दीजाती थी। विद्या बेंचना पाप ही नहीं घोर पाप समझा जाता था। विद्यादान से बढ़कर कोई दान नहीं समझा जाता था, सब से बढ़कर विद्या धन ही था। उस समय बाहरी टीमटाम की आवश्यकता न थी। अब मामूली मदरसों तक के लिये हजार दो हजार की पहले इमारत ही चाहिये। विश्वविद्यालयों के लिए लाखो, करोड़ों रुपये की आवश्यकता पड़ती है उस पर भी न मातृभाषा की पढ़ाई न ऐसी पढ़ाई जिससे कुछ जीवन को वास्तविक लाभ हो या मातृभूमि की सेवा की जा सके। अन्त मे वही दूसरो का मुँह ताकना पड़ता है। नौकरी की शरण लेनी पड़ती है। कोई भी ऐसा स्वतंत्र व्यवसाय नही सिखलाया जाता जिससे भारतीय विद्यार्थी संसार क्षेत्र के उन्नति मार्ग मे अग्रसर हो सकें।

यदि किसी ऐसे व्यवसाय को सीखना है या उच्च शिक्षा प्राप्त करनी है तो विदेशों को जाना आवश्यक होता है। दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। भारत एक तो वैसे ही ग़रीब फिर उसके विद्यार्थी विदेशों मे किस प्रकार जा सकते हैं, उन्हें ख़र्च कहाँ से मिल सकता है। क्यो न भारत मे ही ऐसा विश्व-विद्यालय खोला जावे जिसमे आविष्कार सम्बन्धी उच्च शिक्षा दी जा सके। उसके लिए न दूसरों का मुख ही जोहना पड़े न अधिक ख़र्च की आवश्यकता ही पड़े। इन्हीं सब बातों का पूर्ण रीति से विचार कर, देशहित से प्रेरित हो कर श्री जमशेद जी नासरवान ताता ने तीस लाख की सम्पति गवर्नमेंट को इसीलिए सौंपदी कि उससे ऐसा विश्व-विद्यालय खोला जाय जहां भारतीय शिक्षित-समुदाय वैज्ञानिक आविष्कारों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करसके। इस विद्या-

लय की रचना, उसके पाठ्य विषयों की शिक्षा आदि के सम्बन्ध मे बम्बई सरकार ने उचित क़ानून बना दिए है और ठीक ढंग से शिक्षा दी जाती है।

भारतवर्ष की ग़रीबी के विषय में ताता जी की वही राय थी जो स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी की थी। राजनैतिक मामलों में ताता के विचार बहुत ऊँचे थे और सब से अच्छी बात तो यह थी कि वे उनके प्रगट करने में डरते न थे।

सर फीरोजशाह मेहता ने—जो ताता के जीवन के अद्वितीय ज्ञाता थे, कहा था। "ताता जी सार्वजनिक जीवन मे पूरा भाग लेते थे। दूसरा कोई आदमी ऐसा नही था जिसके राजनैतिक विचार ताता जी से अधिक ज़ोरदार हो। यद्यपि वे सभा मे खड़े होकर बोलते नहीं थे लेकिन सहायता और सहानुभूति में सदैव आगे रहते थे। देशहित कार्यों मे सहायता देना और उनसे प्रेम करना उन्होंने भली भाँति सीखा था। उनके जीवन मे एक यह विशेषता भी अवश्य थी कि राजाओं को भी वे समान रूप से प्रिय थे।

सन् १९०४ ई० मे ६५ वर्ष की अवस्था में प्रसिद्ध महापुरुष ताता संसार को व्यापारिक सफलता का आदर्श सिखलाते हुए इस संसार से कूच कर गए। स्वास्थ्य बिगड़जाने के कारण डाक्टरों की सलाहसे वे मिश्र, केरो, नेपल्स तथा यूरोप के अन्यान्य शहरों में घूमते हुए वियना पहुँचे परन्तु उनकी शक्ति दिनोदिन क्षीण ही होती चली गई। अन्त मे वे जर्मनी के एक गांव मे ले जाए गए और वही उनकी मृत्यु हुई। इस दुखद समाचार से भारतवर्ष में हाहाकार मच गया। अपूर्व दानवीर और कर्मवीर मृत्यु से सभी को दुःख हुआ।

भारत के अलौकिक हितैषियों में से ताता भी एक पुरुष-रत्न थे। शिक्षित भाइयों के सच्चे मित्र एवं धनिकों के सच्चे आदर्श थे। व्यापारी समाज तो उन्हें अपना राजा मानता है। ताता यदि केवल एक बड़े व्यापारी या महादानी ही होते तो शायद इतनी प्रसिद्धि न पाते जो इस समय पारहे हैं। किन्तु उनमे तो कितने ही ऐसे अनुकरणीय गुण विद्यमान थे जिससे हमको बहुत शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

उनका तमाम चरित्र अनुकरणीय विशेषताओं से भरा हुआ है, उनका उद्योग भारतीय सम्पत्तिशाली धनिकों और राजाओं के लिये आदर्शवाद है। यदि भारत के पूंजीपति ताता की तरह अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करें तो निस्सन्देह आज ही भारत की गणना सभ्य देशों मे होने लगे। ताता ने अपनी बुद्धि की कुशाग्रता से जो अतुल सम्पत्ति प्राप्त की वह भारत के घर घर में भर जावे। यदि हमारे ज़मीदार और कृषक समुदाय ताता की भांति कृषि मे उद्योग करें तो कितनी सफलता प्राप्त हो यह कहना व्यर्थ है। देशहित-चिन्तन ताता के जीवन का मुख्य लक्ष्य था। वे अपने प्रत्येक कार्य से देश को उन्नत बनाना चाहते थे।

श्री जमशेदजी नासरवान ताता ने कर्त्तव्य ही को अपने जीवन का आदर्श बनाया। सत्कार या मान की तो कभी अभिलाषा ही न की। ताता का जहां सार्वजनिक जीवन सफलता और उपकार पूर्ण था वहाँ निजी जीवन में भी वे बहुत ही सर्व प्रिय थे। उनके साथ का आनन्द वे ही लोग जानते हैं जिनको उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रायः भोजन के समय वे अपनी आनन्दवार्त्ता और विनोदपूर्ण कहानियों से सब को प्रसन्न किया करते थे।

उपर्युक्त न्यूनाधिक विवरण से ज्ञात होता है कि स्वर्गीय ताता ने अपने व्यापार के बल पर कैसे २ देश-हित के बड़े २ कार्य किए हैं। देश को ऐसे ही उदार नेताओं की आवश्यकता है जो केवल अपने ही स्वार्थ साधन में संलग्न न रहें अपितु देश-हित का भी ध्यान रक्खें। ताता के चरित्र पर बार बार विचार और मनन करने से उनका महत्त्व हमारी समझ में आजाता है और हम को इस बात का शिक्षा मिलती है कि गुलाम देश में नौकरी के अतिरिक्त मनुष्य का क्या कर्त्तव्य-कार्य है जिससे वह अपनी तथा अपने देश की कुछ भी भलाई कर सके। सचमुच ताता के चरित्र से हम बहुत से लाभ उठा सकते हैं।

७--श्री स्वामी रामतीर्थ

नके हृदय मे ग़रोवों के प्रति दया है, अपने देश और समाज के प्रति सच्ची सहानुभूति है, जो अपनी प्रतिभा और वुद्धि के वल से देश में जागृति फैलाकर उसे उन्नत वना सकते हैं, जो देश और समाज की रक्षा करने की सामर्थ्य रखते हैं, वास्तव में वे सच्चे साधु हैं, वे सच्चे कर्मनिष्ठ संन्यासी हैं।

स्वामी रामतीर्थ भारत के ऐसे ही संन्यासियों में थे। पंजाव प्रान्त में गुजरानवाला जिले के मराली नामक ग्राम में सन् १८७३ ई० मे व्राह्मण कुल मे उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम था गोस्वामी हीरानन्द जी। गोस्वामी हीरानन्द जी की स्त्री वड़ी सुशीला और पतिव्रता स्त्री थीं। स्वामी रामतीर्थ का पहिले नाम था तीर्थ राम।

वालक तीर्थराम को उत्पन्न होने के १०-५ दिन वाद ही मातृ-वियोग की असहनीय वेदना सहनी पड़ी पर उनका लालन-पालन उनके वड़े भाई गोस्वामी गुरुदास जी तथा उनके पिता की वहन ने किया।

तीर्थरामजी मे शारीरिक शक्ति विलकुल ही न थी। उस समय की दयनीय दशा को देख कर कोई यह विचार भी नहीं कर सकता था कि यही वालक एक समय ५०-५० मील की पहाड़ी यात्रा पैदल एक दिन में पार करेगा। अमेरिका के जंगलों में दौड़ मे फौजी सैनिकों को भी परास्त करेगा।

तीर्थरामजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी ग्राम-पाठशाला में ही हुई। दुर्बल शरीर के होने पर भी उनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। पढ़ने लिखने में वे खूब मन लगाते थे। यूनीवर्सिटी तक में प्रथम नम्बर रहे। बहुत सीधी सादी चाल से रहते थे। अभिमान तो छू कर नहीं निकला था। वाणी में अपूर्व मधुरता थी। खेल कूद उनको बिलकुल ही पसन्द न था। कालेज की पढ़ाई के अतिरिक्त उनका तमाम समय अध्यात्म-चिन्तन में ही जाता था। तीर्थराम जी को गणित विषय से विशेष प्रेम था। २१ वर्ष की आयु में एम. ए. पास करने के बाद स्यालकोट मिशन कालेज मे गणित के प्रोफेसर हो गए।

उन दिनों गुजरानवाला मे एक भगत रहते थे, जो धन्ना भगत के नाम से प्रसिद्ध थे। धन्ना भगत विशेष पढ़ेलिखे व्यक्ति न थे परन्तु पवित्रात्मा और वेदान्त के गूढ़ रहस्यों के ज्ञाता थे। उनका नाम चारों ओर तो प्रसिद्ध न था; हाँ, आस पास के गावों के सर्व साधारण उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनकी अमृत- मयी वाणी से निकले हुए उपदेशामृत को बड़े चाव से पीते थे।

तीर्थरामजी ने भी धन्ना भगत का नाम विद्यार्थी अवस्था में ही सुना था और तभी से उनके पास जाने लगे थे। धन्ना भगत, तीर्थराम की प्रतिभा देखकर उन पर मुग्ध थे। घंटों उनको उपदेश दिया करते थे। तीर्थरामजी भी भगत जी के उपदेशो को बड़े ध्यान से सुनते और उन पर विचार करते थे। पढ़ने के बाद का अधिक समय वे भगत जी के सत्सङ्ग में ही व्यतीत करते थे। उनके उपदेशों का तीर्थरामजी के हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा। भगत जी वेदान्ती थे, वेदान्त की ही शिक्षा देते थे। वही तीर्थरामजी को भी मिली। वेदान्त, दर्शन के गूढ़ तत्त्वों के

समझने के साथ २ भगत जी के सत्सङ्ग से तीर्थरामजी को एक अपूर्व लाभ यह हुआ कि भगत जी के अनुरोध से ही उनके पिता ने उन्हें उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर किया वर्ना उनकी इच्छा उन्हे व्यापार में डालने की थी। यदि तीर्थरामजी को धन्ना भगत का सत्सङ्ग न हुआ होता तो तीर्थराम जापान, अमेरिका में वेदान्त का झंडा फहरा सकते या नहीं (?) इसमें सन्देह था।

छात्रावस्था से ही तीर्थरामजी को संसार से विरक्ति हो चली थी। वेदान्त के वे पक्के अनुयायी हो चुके थे। धन्ना भगत को जो पत्र भेजा करते थे, उनमे प्रायः ईश्वर चर्चा ही होती थी। एक पत्र में वे अपने गुरू (धन्ना) को लिखते है—" परमेश्वर मुझे बड़ा ही प्यारा लगता है। सभी को उससे प्रेम रखना चाहिए। संसार का एक तिनका भी विना उस की स्वयं इच्छा के नहीं हिलता। जब तक नचाने वाला न हो कठपुतलियाँ नाच नहीं सकतीं। विना बजाने वाले के बाँसुरी बज नहीं सकती। इसी प्रकार संसार के सब काम उसी एक सत्ता की प्रेरणा से होते हैं।" एक दिन अपने एक सहपाठी के भी "आपकी यथार्थ इच्छा क्या है ?" पूंछने पर यही उत्तर दिया था कि "मैं कुछ दिनों ही पढ़ाकर देशाटन और उपदेश करना चाहता हूँ। उपदेश द्वारा पारमार्थिक अविद्या अन्धकार से मनुष्यों को निकालना ही मेरा मुख्य कर्त्तव्य है"।

अन्त मे २६ वर्ष को आयु मे अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार गृहस्थी के जाल तोड़, सांसारिक बन्धनों से मुख मोड़ संन्यास धारण कर ही लिया। अपना नाम तीर्थराम से रामतीर्थ रक्खा। स्वामी रामतीर्थ ने संन्यास धारण कर जिस समय घर छोड़ा है उस

समय उनके पिता, पत्नी, पुत्रो से-लगाकर मित्रों, कुटुम्बियों, नगर वासियों तक की विचित्र दशा थी। मानसिक वेदना थी। करुणा-जनक दृश्य था। दुःख का मुख्य कारण था असमय संन्यास ग्रहण करना। परन्तु जिसका चित्त संसार से निवृत्ति पाचुका है उसके लिए असमय कैसा? सांसारिक रुकावटें उसका क्या कर सकती हैं। कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के सम्मुख कोई रुकावट बाधा नहीं डाल सकती। वह तो सारी वासनाओ पर, संसार के तमाम ऐश्वर्यों पर लात मारकर, उन्हे मिट्टी के ढेले के समान फेंककर अनन्त लाभ की ओर देखता है। स्वामी रामतीर्थ जनसमूह के कष्ट की परवाह न कर कर्त्तव्य-पथ-गामी हुए। उनके चलते समय का दृश्य एक कवि ने क्या ही कारुणिक शब्दो में खींचा है। वह लिखता है:—

वृद्ध पिता माता की आशा, बिन ब्याही कन्या का भार,
शिक्षा-हीन सुतो की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार।
सन्मित्रो की प्रीति और कालेज वालो का निर्मल प्रेम,
त्याग, एक अनुराग किया उसने विराग मे, तज सब नेम।
"प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता" यो कहती प्यारी छोड़ी,
"हाय वत्स वृद्धा के धन" यो रोती महतारी छोड़ी।
चिर सहचरी 'रयाजी' छोड़ी रम्य तटी रावी छोड़ी,
शिखा, सूत्र के साथ साथ उन बोली पञ्जाबी छोड़ी।
शोक ग्रसित हो गई लवपुरी उसकी हुई विदाई जब,
द्रवी भूत कैसे न होय मन संन्यासी हो भाई जब।
खिन्न, अश्रु-मुख वृद्ध लगे कहने 'मंगल तव मारग हो,
जीवन्मुक्त सहाय ब्रह्मविद्या मे सत्त्वर पारग हो।

इस प्रकार माता पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री सब का मोह तृणवत् महात्मा रामतीर्थ महाव्रत के व्रती हुए।

सन्यास ग्रहण के पश्चात् ही स्वामी जी ने कुछ दिन एकान्त वास किया। कुछ लेख, निबन्ध आदि भी लिखे। जिनमें देश के प्रति अपूर्व प्रेम, संसार के प्रति पूर्ण वैराग्य, ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ सत्य निष्ठा थी, एक जगह लिखते हैं:—

"ओ नीलाकाश! अब तू स्वच्छ हो जा। भारत भूमि पर मंडराए हुए मेघो! दूर हो जाओ, हमारी इस पवित्र भूमि पर मत मँडराओ। ऐ हिमालय के हिम! अपनी पवित्रता और शुद्धता को स्थिर रक्खो। द्वैतभाव से कलुषित जल पवित्र मैदान मे मत ले जाओ।"

एक स्थान पर 'माया' शीर्षक निबन्ध मे वे लिखते हैं—

"मेरे सामने एक नवयुवक ने सुगन्ध लेने के निमित्त एक गुलाब-पुष्प तोड़ा। ज्योंही वह उसे सूंघने को हुआ, पुष्प मे बैठी हुई मक्खी ने उसकी नाक मे काट खाया। फूल नवयुवक के हाथ से गिर पड़ा और वह उसकी वेदना से रोने लगा। निस्सन्देह कोई भी विषयों से परिपूर्ण ऐसा गुलाब नही है जिसमे दुःख रूपी मक्खी न छिपी बैठी हो। जो वासनाएं रोकी नही जा सकती उनके लिए दण्ड मिलना अनिवार्य है।"

एकान्त सेवन और तपस्या के पश्चात् स्वामी जी इधर उधर घूम कर प्रचार-कार्य करने लगे। साल छै महीने भारत मे घूमने के पश्चात् जापान, अमेरिका, मिश्र आदि की यात्रा की। मिश्र में मुसलमानो ने बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया और अपनी मस्जिद मे व्याख्यान करवाया। उनके शानदार भाषण पर विश्व-विद्यालय के एक प्रोफेसर ने कहा था "अभी तक हमें दार्शनिक देखने को नहीं मिला था यही एक सच्चा दार्शनिक विद्वान देखने में आया है" अमेरिका आदि में स्वामी जी को एक एक दिन

में छै छै व्याख्यान देने पड़ते थे परन्तु लोगो की अध्यात्मिक पिपासा शान्त न होती थी।

वहाँ तो स्वामी जी ने अपने शारीरिक बल का भी परिचय दिया था। पानी मे बीस २ मील तैरते चले जाते थे। फौजी सैनिको के साथ कई २ मील की दौड़ बदी जाती थी जिनमे सब से आगे निकल जाते थे। एक अमेरिकन मेम, वृद्ध और यात्रा में असमर्थ होने पर भी, केवल श्रद्धा-वश राम के दर्शनों को भारतवर्ष आई थी। यहाँ की भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी बहुत समय तक यहाँ रही। जिस समय वैदिक संस्कृति की विजय दुन्दुभी बजाते हुए स्वामी जी भारतवर्ष को लौटे तो यहाँ उनका अपूर्व स्वागत हुआ।

भारत में आकर स्वामी जी ने यहाँ भी व्याख्यानों का ताँता बाँध दिया। क्योकि उन्हे वही से यह लौ लगी थी कि अन्य देशो की भाँति भारतवर्ष की भी उन्नति होनी चाहिए। जहाँ कही वे पहुँचते थे नवजीवन का सञ्चार हो जाता था। उत्तर भारत का कोई ही ऐसा स्थान होगा जहाँ स्वामी जी का व्याख्यान न हुआ हो। स्वामी जी की अभिलाषा कुछ ग्रन्थ लिखने की थी पर दुर्दैव काल की कुटिल नीति का प्रहार हुआ; तेंतीस वर्ष की ही उम्र में ईश्वर ने हम में से स्वामी रामतीर्थ को अपने पास बुला लिया।

दिवाली का दिन था, घर २ मकानों की शुद्धि हो चुकी थी, दीपों से घर जगमगा रहे थे, रोशनी से आँखें चकाचौंध हो रही थी, ठीक इसी समय धोखे में ही हमारा धन हम से छीन लिया गया।

स्वामी जी ने इस दिन, पहले जो लेख आदि अधूरे थे उन्हें पूरा किया। मरने से कुछ पूर्व एक लेख लिखा जिसमे मृत्यु का

आह्वान था। वे लिखते हैं :—"ऐ मृत्यु ! तू आ, बड़ी खुशी से आ। याद रख मुझे इस शरीर की किञ्चिन्मात्र भी परवाह नहीं है। मेरे पास तो वह शरीर है जिससे मेरा व्यवहार रुक ही नहीं सकता। मैं तो चन्द्रमा की किरणों के रुपहले तार धारण कर जीवन व्यतीत कर सकता हूं। पहाड़ नदी नालों के वेश में मस्त रह सकता हूँ। ऐ मृत्यु ! तू नही जानती मैं समुद्र की लहरो के साथ नाचता फिरूँगा। मैं अनेक रूप हूँ। इस रूप मे मैं पर्वत-शिखरो से उतरा, कुम्हलाए पौधो को हरा भरा किया, सुमनों का हँसाया, बुलबुलो को रुलाया. सोतों को जगाया, खड़ों को बढ़ाया, इसे छेड़, उसे छेड़, तुझे छेड़, यह आया वह गया, न कुछ साथ रक्खा न किसी के हाथ लगाया"। इत्यादि

लेख लिख कर वे गङ्गा स्नान करने गए और वही जल समाधि में लीन हो गए। लोगो ने समझा वे अकस्मात डूब गए है। सात दिन तक बराबर खोज होती रही परन्तु कही कुछ पता न चला; अन्त में जब लोग हार मान कर बैठ गए तो देखा गया कि स्वामी जी का पद्मासनस्थ शरीर एक गुफा में मुख खोले बैठा हुआ है। खुले हुए मुख से प्रतीत हो रहा है कि स्वामी जी 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। यह देख सब को बड़ा आश्चर्य हुआ।

स्वामी जी के जीवन मे यह भी एक अद्भुत बात देखने में आई कि उन का जन्म दिवाली के दिन हुआ। संन्यास भी उन्होंने दिवाली के ही दिन लिया और शरीरत्याग भी दिवाली को ही किया।

स्वामी रामतीर्थ का जीवन शान्ति और प्रेम से भरा हुआ, प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण एक सरस राग है। यह राग अश्रुत पूर्व

नहीं है। उपनिषदों के उपदेश को स्वामी जी ने प्रचारित किया। उन्होंने अपने अन्तःकरण से ऊँचे शब्दो मे—मनुष्यो को विभिन्नता त्यागने का, स्वार्थ छोड़ने का, अनेकत्त्व से एकत्त्व मे आने का और परमार्थ चिन्तन का उपदेश दिया। उन्होंने मनुष्यों को घृणा से प्रेम और युद्ध से शान्ति का पाठ पढ़ाया। उनके व्याख्यान भावपूर्ण होते थे, वे व्याख्यान देते देते आवेग में स्वयं भी कभी २ रो उठते थे। उनके प्रत्येक शब्द मे प्रेम होता था, आध्यात्मिक गंभीर विचार ध्वनित होते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मनुष्य मतमतन्तारो के अड्ङ्गो मे न पड़ कर परब्रह्म का सच्चा स्वरूप समझे।

स्वामी रामतीर्थ अपने को राम बादशाह कहा करते थे। उनके उपदेश 'राम बादशाह के हुक्मनामे' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका भारत माता के प्रति असीम प्रेम था; फिर भी वे अपने को किसी देश विशेष या जाति विशेष का न मानते थे। सारी वसुन्धरा उनकी थी और वसुन्धरा के वे थे। वे कहा करते थे—

बादशाह दुनियाँ के हैं मुहरे मेरी शतरंज के।
दिल लगी की चाल है सब रंग सुलह व जंग के॥

स्वामी रामतीर्थ की आत्मीयता आवेशपूर्ण थी। कभी २ तो वह महीनो तक मौन व्रत धारण कर लेते थे मानो संसार के प्रति उनका कुछ सन्देश ही नहीं। परमानन्द में निमग्न हो जाते थे। कभी २ ज्वालामुखी पर्वत के तुल्य जब उनकी हृदयाग्नि भभकती थी तो बड़े ज़ोर शोर से अपने विचारो को प्रगट करने लग जाते थे। बहते हुए जल और स्वच्छ नीलाकाश को देख कर उन्हे आनन्द होता था और शान्ति मिलती थी। वह चट्टानो पर घाम मे घण्टो आँखें बन्द किये पड़े रहते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि स्वामी जी अल्प समय में ही समाधिलीन न हो जाते तो उनसे भारत ही नहीं संसार का विशेष उपकार होता। क्योकि उनके विचारो में स्वार्थत्याग, विश्व-प्रेम निर्भीकता, आत्म-विश्वास, दृढ़ता और शुद्धता कूट कूट कर भरी थी।

८--श्री रमेशचन्द्र दत्त ।

सार मे आकर जो अकुतोभय अपनी पवित्र आत्मा का आज्ञा मानने के लिये देश, काल, समाज, किसी की भी परवाह न कर अपने दृढ़ संकल्प का ही पूरा करते हैं—चरित्र-दृढ़ता, सत्य-प्रेम और कर्त्तव्य-परायणता से दूसरो के आदर्श रूप बनते है। ऐसे ही पुरुषो की गणना में श्री रमेशचन्द्र दत्त, सी० आई० ई०, का भी नाम लिया जाता है।

रमेशचन्द्र दत्त का घराना बङ्गाल में बहुत समय से प्रसिद्ध है। उसी अति प्रसिद्ध घराने मे सन् १८४८ ई० मे रमेशचन्द्र जी का जन्म हुआ। इनके पिता ईशान चन्द्र जी अँगरेज़ी पढ़े लिखे योग्य विद्वान पुरुष थे। उसी के अनुसार हमारे चरित नायक भी पढ़ने लिखने मे विलक्षण बुद्धि रखते थे। पिता जी की नौकरी दौरा मे होने के कारण यद्यपि रमेशचन्द्र की पढ़ाई एक ही स्थान पर नहीं हुई फिर भी जहाँ २ आप पढ़े अपनी तीव्र-बुद्धि का परिचय दिया और पारितोपिक प्राप्त करते रहे। पुत्र की योग्यता पर सन्तोष प्रकट करते हुए पिता ने कहा—मै तुझे विलायत पढ़ने के लिए भेजूंगा। दुःख है कि वे अपने पिता के सम्मुख विलायत न जा सके।

१५ वर्ष की अवस्था मे रमेश चन्द्र जी ने एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। स्कूल में प्रथम नम्बर होने के कारण १४) रु० मासिक

को छात्रवृत्ति भी मिली। एन्ट्रेंस पास होने के पहले ही रमेशचन्द्र जी का ब्याह हो गया था और पिता के मर जाने से गृहस्थी का तमाम भार उनके कंधो पर आ पड़ा था पर वे घबड़ाए नही, पढ़ना बन्द नहीं किया। एफ० ए० मे भी दूसरे नम्बर आए। पहले नम्बर वाले लड़के से सिर्फ १ नम्बर कम था। उसमें इनको ३२) रु० की छात्र-वृत्ति मिली।

उन्नीस वर्ष की अवस्था मे अपनी उत्कट अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए इन्होने विलायत यात्रा को प्रस्थान कर दिया। और वह घर वालों से छिपाकर भागकर विलायत पहुँचने पर अपने भाई योगेशचन्द्र को उन्होंने जो पत्र लिखा था उससे उनकी महत्त्वाकांक्षा का परिचय मिलता है। वे लिखते है ··· ··· · ···"जहाज पर बैठे हम लोग चारों ओर के विचित्र दृश्यो को देख ही रहे थे कि मेरे चित्त मे दूसरे ही भाव हिलोरें लेने लगे। हम लोगो ने अपना घर बार, बन्धु-बान्धव एक ऐसे कार्य के लिए छोड़े है जिसे पिछले अनुभव के आधार पर हम असम्भव सा कह सकते है। और वह कार्य, वहाँ करने जा रहे है जहाॅ कोई मित्र नही, स्वकीय या प्रियजन नहीं। यदि हम उद्देश्य मे सफल न हुए तो समझिए अपने भविष्य को ही नहीं सर्वस्व को बिगाड़ रहे है। यदि हमारी प्रवृत्ति की सूचना ज़रा भी किसी को हो जाती तो हमारा आना यहाँ न हो पाता। हमारे रक्षक कभी समुद्र पार जाने की आज्ञा न देते। परन्तु हमने पिछले अनुभवो की उपेक्षा करके एक असम्भव कार्य-साधन के लिये छिपकर भाग निकलना ही श्रेयस्कर समझा। पता नहीं हमारी उसमें विजय होगी अथवा यहाॅ से लौट कर स्वदेश मे समाजच्युत होकर दीन मनुष्यो का सा जीवन बितावेगे। इस प्रकार के विचार हमारे भविष्य को भयानक बना रहे थे। सफलता की आशा रूपी

एक भी किरण इस अन्धकार को दूर करने के लिए कहीं न दिख लाई देती थी।" सचमुच उस समय जब कि विलायत यात्रादि को लोग नहीं जाते थे, रमेशचन्द्र और उनके साथियों ने साहस का कार्य किया।

वहां जाकर रमेश चन्द्र जी ने सिविल सर्विस परीक्षा की तयारी प्रारम्भ का। ज़ोरों के साथ पढ़ना शुरू किया। उनका तो कहना है कि "हमने सिविल सर्विस परीक्षा के लिए जितना पढ़ा और परिश्रम किया उतना उमर भर नहीं पढ़ा"। एक वर्ष कठिन परिश्रम के साथ पढ़ कर परीक्षा के लिए बैठे। ३२५ अंग्रेज़ विद्यार्थी थे जिनमें से पचास चुने गए। दुनियां की परीक्षाओं में सब से कठिन यह परीक्षा है। दत्त महोदय ने अंग्रेज़ी, गणित, दर्शन, विज्ञान तथा संस्कृत में परीक्षा दी। लेखबद्ध और मौखिक एक महीने तक परीक्षा होती रही। मौखिक परीक्षा मे अंग्रेज़ी के परीक्षक ने इनसे पठित पुस्तको के नाम पूँछे। इन्होंने एक लम्बी लिस्ट सामने रख दी जिसे देख कर आश्चर्य के साथ उसने पूछा—"क्या वास्तव में तुमने इतनी पुस्तकें पढ़ी हैं"? इन्होने कहा—"अवश्य"। जब परीक्षा परिणाम विदित हुआ तो हमारे चरित-नायक का नम्बर सब में तीसरा था। तब तो अंग्रेज मित्रों तक ने उन्हें बधाई-पत्र लिखे। इसके पश्चात् रमेशचन्द्र जी ने बैरिस्टरी परीक्षा पास की और सिविल सर्विस के अन्तिम चुनाव में उनका दूसरा नम्बर रहा। आई सी. एस. की परीक्षा पास करके योरोप के कई देशों में घूमते हुए और वहां के शासनों का अध्ययन करते हुए वे स्वदेश लौटे।

विलायत से लौटते ही रमेशचन्द्र जी अलीपुर में असिस्टेंट मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। एक वर्ष मे ही सब डिवीज़नल आफ़ीसर हो गए। इसी समय इन्होंने कितनी ही पाठशालाओं की सरकारी

रुपये और अपने निजी रुपये से सहायता कर शिक्षा की उन्नति की।

धीरे २ दत्त महोदय को कलेक्टर का पद मिला और अन्त मे बड़े सम्मान के साथ वे कमिश्नर के पद पर सुशोभित हुए। यह प्रथम अवसर था जब कि एक भारतीय सज्जन इस उच्च पद पर नियुक्त किए गए। इस समय एङ्गलोइंडियन में बहुत वाद-विवाद उठा। इंडिया-कौंसिल तक प्रश्न पहुंचा परन्तु दत्त की योग्यता मे किसी प्रकार की शंका न थी इससे उन्हीं को यह पद दिया गया।

मि० दत्त की मातहती मे अंग्रेज कलेक्टरो तक को कभी किसी प्रकार की शिकायत का मौका न मिला क्योकि कार्य उन्होने ऐसी कुशलता से किया कि सरकार मे मान बढ़ता ही गया। छोटे लाट ने उनकी दक्षता देख कर अपनी व्यवस्थापक कौंसिल का मेम्बर बना लिया। वहाँ के कार्यों से उनकी और भी प्रशंसा हुई। किसी भी उच्च-पदा धकारी के लिए जिस विदग्धता की अतीव आवश्यकता होती है उस गुण मे रमेशचन्द्र जी भरपूर थे। यही कारण था कि सब लोग सदैव उनसे सतुष्ट रहते थे। मातहतों के साथ उनका अनुकरणीय व्यवहार रहता था। वे उनसे बड़ी चतुराई और उदारता से कार्य लिया करते थे। चाहे अंग्रेज हो चाहे भारतीय, किसी से कभी उनकी अनबन न होती थी।

इस प्रकार अपना अधिकांश समय नौकरी मे बिता कर अपनी अद्भुत कार्य-कुशलता का परिचय देकर रमेशचन्द्र ने पेन्शन लेली। यदि वे चाहते तो ८-१० वर्ष और नौकर रह सकते थे पर तीन विशेष कारणो से और अधिक समय उसमे न लगाना चाहा। प्रथम तो नौकरी और द्रव्योपार्जन उनका मुख्य मन्तव्य न था। साहित्य-सेवा को वे सर्व्वोच्च मानते थे। द्वितीय,

स्वच्छन्दता से देश सेवा करना चाहते थे। तीसरे, स्वास्थ्य भी कुछ बिगड़ चला था।

अपने कार्य-काल में वे किसानो से बहुत सहानुभूति रखते थे और उनकी यथाशक्ति सहायता करते थे। नौकरी छोड़ने के पश्चात् उन्होंने जो पुस्तकें लिखी है वे अधिकतर किसानों के ही स्वत्त्वों का समर्थन करती हैं।

जब रमेशचन्द्र ने नौकरी छोड़ कर साहित्य-सेवा मे पदार्पण किया तो उसमे अपनी अद्वितीयता का परिचय दिया और सदा के लिए अमर हो गए। अंगरेज़ी पद्य मे रामायण, महाभारत लिख कर आँगल-साहित्य मे अपने को अमर बना लिया। और भी कितनी ही पुस्तके अंगरेज़ी मे लिखीं। एक पुस्तक किसानों की दशा पर लिखी जिसमें उनके स्वत्त्वों को बढ़ाने के साथ २ सरकार की पालिसी की कड़ी आलोचना की। ज़मींदारों की लम्बी खबर ली। इस पुस्तक पर बड़ी २ कड़ी समालोचनाएं हुईं। सरकार मे बड़ी पूँछताँछ रही। किसानों की दशा की जांच पड़ताल की गई और अन्त मे उनके स्वत्त्वो की रक्षा के लिए नए क़ानून बनाए गए। अँगरेज़ी में लिखने के बाद उनका ध्यान अपनी मातृभाषा बङ्गला की ओर आकर्षित हुआ और कई एक उपन्यास तथा साहित्यिक पुस्तकें लिखी जिनका बड़ा आदर हुआ।

उन्होंने ऋग्वेद संहिता का अनुवाद किया। यद्यपि संकोच-बुद्धि-वाले पंडितो को यह बहुत खटका पर रमेशचन्द्र जी अच्छे कार्य और संकल्प से कब पैर डिगाने वाले थे। उसे पूरा ही करके छोड़ा। इससे योरोप क्या भारत मे सर्वत्र इनकी कीर्ति फैल गई और बड़ा सम्मान प्रदर्शित किया गया। उन्होंने "प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास" लिखा जो पढ़ने योग्य है।

कुछ साहित्य सेवा के बाद जब रमेशचन्द्र ने योरोप व भारत-भ्रमण किया तो जगह २ उनका बड़ा आदर हुआ। मान-पत्र दिए गए। व्याख्यान करवाए गए जिनका लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। विलायत जाकर भारतीयो की स्वत्त्व रक्षा जो उचित थी, बराबर करते रहे। देश की दीन दशा, दुर्भिक्ष तथा तत्संबंधीय अन्य आथिक प्रश्नो को वक्तृता, लेख तथा पुस्तकों द्वारा श्वेत जनता के सम्मुख रक्खा। महाराज बड़ौदा के विशेष आग्रह से विलायत से भारत लौट कर कुछ समय तक बड़ोदा राज्य के दीवान का पद ग्रहण किया।

रमेशचन्द्र दत्त की स्वदेश-प्रियता का पता इसी बात से चलता है कि वे अखिल भारतीय राष्ट्र सभा के दो बार सभापति बनाए गए। दत्त के सभापति बनाए जाने पर लोगो को आश्चर्य हुआ कि एक सिविलियन कांग्रेस का सभापति! पर जब उन्होंने अपने विचार प्रगट किए तो भारतीय जनता उनका भूरि २ प्रशंसा करने लगी। उनका निश्चित विचार था कि कांग्रेस ही भारतीयो के सच्चे विचारो और आकांक्षाओं को प्रगट कर सकती है। उनका सभापति की हैसियत से दी हुई वक्तृता महत्वपूर्ण थी। अपढ़ कृषको और भारत की आर्थिक दशा की खासी विवेचना की गई थी। इसी वक्तृता के कारण भारत सचिव और हाउस आफ कामन्स मे बड़ी खलबली मच गई। इस प्रकार उनकी योग्यता को भारतीयों ने बड़ी कृतज्ञता से स्वीकार किया और उच्च से उच्च पद जो उनके हाथ मे है उससे उन्हें विभूषित किया।

बड़ोदे का अमात्य पद ग्रहण करके उसमे कर सम्बन्धी सुधार, शासन सम्बन्धी सुधार, शिक्षा संबंधी सुधार, व्यापार सम्बन्धी सुधार किये। पञ्चायतें बोर्ड आदि खोलकर लोगों में स्थानीय स्वराज्य का सूत्रपात कर दिया। यह कहने मे

अत्युक्ति न होगी कि बड़ौदा रियासत की उन्नति का श्रेय रमेशचन्द्र दत्त महोदय को भी है। सरकार ने उनके कार्य से प्रसन्न हो उन्हे सर की उपाधि दी।

श्री रमेशचन्द्र दत्त ने साधारण रूप से नरमी के साथ भारतीय जनता की आँखें देश की वास्तविक दशा सुझाकर खोलने की की, जिसके लिए भारत चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा। यावज्जीवन उन्होंने सरकार और प्रजा दोनों का कल्याण किया।

जब वे बड़ौदा मे ही प्रधान सचिव थे, एक भोज के आयोजन मे ही हृदय में दर्द पैदा हो गया पर वे उसे बर्दाश्त करते हुए प्रबन्ध में संलग्न रहे। वहाँ से लौटने पर चारपाई पर ऐसे पड़े कि दो सप्ताह तक उठ न सके और अन्त में सदैव के लिए इस संसार से चल बसे। मृत्यु के समय रमेशचन्द्र दत्त की अवस्था इकसठ वर्ष की थी। रमेशचन्द्र दत्त जी ने अपने जीवन को खूब चमकाया। अक्षय कीर्ति प्राप्त की।

वे अपने कर्त्तव्य पालन का ध्यान मुख्य रूप से रखते थे। उसके सामने सुख दुख, छोटाई बड़ाई आदि का कभी प्रश्न ही न आने देते थे। एक बार दुर्भिक्ष के समय वे एक जगह वहाँ का प्रबन्ध करने के लिए भेजे गए। वहाँ जाकर उन्होंने बड़ी तत्परता और कुशलता से कार्य किया। जाँच पड़ताल करके दीन दुखियों को सहायता पहुँचाई; उसी मे नदिया जिले के कलेक्टर से कुछ झगड़ा हो गया जिस के कारण उन्हे अपनी नौकरी में उच्च पद तक पहुँचने मे सन्देह होने लगा। उन्होंने जो कुछ किया था उचित किया था इसलिए झगड़े की कोई पर्वाह न की और न उसके लिए पश्चात्ताप करना ही उचित समझा। अपने भाई को एक पत्र लिखा—"मनुष्य दैव से निश्चित सुख दुख के सामने कुछ नहीं कर सकता; वह तो उसे भोगना ही पड़ता है। मैं उच्च पद

पर जाने वाला था परन्तु इस घटना के कारण मुझे ज्ञात होता है कि अब उस में बाधा पड़ेगी लेकिन मुझे इसकी कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूं इस कारण मुझे महान सन्तोष प्राप्त है। इसके सम्मुख धनी मनुष्य के सुख तुच्छ हैं"।

मि० दत्त जब आखरी बार विलायत गए तो विचार किया कि इंगलैंड की जनता भारत की दशा से बहुत ही कम परिचित है। जो लोग कुछ जानते भी हैं वे भारतीय सिविलियन हैं। वे अपने कृत्यों को बुरा कहना उचित नहीं समझते। इसलिए प्रतिष्ठित जनो के हृदय को भारत की दीनावस्था का परिचय देकर उसके सुधार के लिए प्रेरित करूँगा। अपनी पुत्री सरला को एक पत्र लिखते हुए लिखा—"अब मेरे इस वर्ष भारत को लौटने की कोई आशा नहीं है। मुझे लेखन-कला मे विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। कम से कम दो वर्ष में यह ज्ञात होगा कि मैं किस कार्य के करने के योग्य हूं। यदि मैं लेखन कला मे कृतकृत्य हो सकूं तो सरकारी उच्च से उच्च पद मे भी कोई आनन्द नहीं। हाँ, मैं यह कह सकता हूं कि मेरी असफलता का कारण पूर्ण परिश्रम का अभाव न होगा।"

रमेशचन्द्र दत्त इतने उच्च पद तक पहुँचे, कई बार विलायत गए, प्रायः बड़े २ अंग्रेजों के साथ रहे पर अपनी प्राचीन सभ्यता का सदैव ध्यान रक्खा और गृहादर्श भी उसीके अनुसार बनाने का प्रयत्न किया। उनके घर मे जरा भी पश्चिमीय सभ्यता की बनावट न थी; वे अपने आप तथा स्वकीयों को सौजन्य का नमूना बनाने मे सफल हुए। धर्म-पत्नी ज्ञान तथा बुद्धि मे इनके समान न थीं फिर भी मि० दत्त ने उन से भारतीय गृहणी का व्यवहार रक्खा, भाई से उनका अद्वितीय प्रेम रहा। बिना भाई की सलाह लिए

उन्होंने कभी कोई कार्य नहीं किया। प्रायः लोग कन्या की अपेक्षा पुत्र पर अधिक स्नेह रखते हैं पर रमेशचन्द्र दत्त जी का अपनी कन्याओं तथा पुत्रों पर समान प्रेम था; जरा भी किसी को कम ज्यादा न समझते थे। कन्याओं के प्रति भेजे हुए उनके पत्रों में भी उनके पवित्र और अपूर्व प्रेम की झलक दिखलाई पड़ती है।

एक पत्र में वे लिखते हैं...... "बालासोर एक अच्छा स्थान है। आजकल मैं उड़िया सीख रहा हूँ अतः अब जब मैं तुम से मिलूंगा तो अपनी नवीन शिक्षा से तुम्हें चकित कर दूंगा। मेरी ओर से अपने पति को प्यार कहना।"

भाई के एक पत्र में लिखते हैं... "आज मेरा चौंतीसवाँ साल समाप्त हो गया। इन पिछले बारह महीनों में मेरी दो बार कलेक्टरी के पद पर नियुक्ति और कमला का विवाह ये दो बातें मेरे लिये आनन्द वर्धक हुईं। मैंने कमला के सम्बन्ध में अधिक रुचिकर समाचार पाये।"

एक पत्र में पुत्री को लिखते हैं...... "मैं इस बात को भली भाँति जानता हूँ कि तुम हम लोगों के पत्रों के लिए कितनी उत्सुक रहती होगी विमला, जब मैं तुम से कुछ ही बड़ा था और विलायत को चला गया था तो मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मैं घर से पत्रों की उत्सुकता सहित कितनी प्रतीक्षा किया करता था और कितने प्रेम से उन्हें पढ़ा करता था। वही बात मुझे तुम्हारे लिये याद आ जाती है इसी से प्रत्येक सप्ताह तुम्हें पत्र लिखता रहता हूँ। तुमको विश्वास रखना चाहिए कि तुम्हारे प्रत्येक पत्र का उत्तर हम ठीक समय पर अवश्य लिखते रहेंगे।"

......मेरी प्यारी विमला, मैं बड़े ही चाव से प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि छुट्टी मिलने पर तुम्हारे नए घर पर आऊँ और तुम्हारे

-साथ दो चार दिवस शान्ति तथा आनन्द मे विता सकूँ। मुझे विश्वास है कि मेरी प्रिय पुत्री अच्छी तरह मेरी खातिर करेगी। मुझे तुम्हे देख कर न जाने कितना आनन्द होगा।" ..... तुम गान विद्या मे अभ्यास वढ़ाए जाओ जब मै आसाम को आऊंगा तो खूब सुनूंगा। ध्यान रहे कि अब कोई संकोच न होवे, न शरम। वहां पर दीदी सहायता करने को न होगी। तुम्हे अपने प्रिय गीत उच्च स्वर से गाने पड़ेंगे और इस प्रकार तुम रात्रि तथा दिन को मेरी अन्तरात्मा को मोद और उछाह से भर दोगो।"

एक पत्र से मि० दत्त के राजनैतिक विचार प्रगट होते हैं जिसे उन्होने आपने भाई को लिखा था। वे लिखते हैं "वह पत्र मिला जिसमें आपने राजनैतिक विपया मे अधिक भाग न लेने को लिखा है परन्तु मैं जानता हूँ कि मै कांग्रेस पार्टी के साथ न्याय और शासन विभाग को अलग करने मे सहानुभूति प्रकट करने से कुछ खोने की संभावना कर रहा हूँ। इन वातो से हमारे अफसर लोग हम से असन्तुष्ट होगे और कदाचित पूर्ण रूप से मेरे कमिश्नर होने में वाधा डालेंगे। कोई निर्मूल कारण भी वतला देंगे। लेकिन इतना खोने के लिए मैं प्रत्येक समय प्रस्तुत हूँ मुझे इसमे कोई हानि नहीं समझ पड़ती। मुझे इसमे वड़ा आनन्द आता है कि इस प्रकार मैं केवल अपने देश की ही सेवा नहीं करता वरन् सरकार मेरी शक्ति को कुछ न कुछ सोचने तो लगती है।

मि० दत्त स्त्रियों के साथ भी विलकुल समान, वरावरी का ही व्यवहार रखते थे; जरा भी भेद न समझते थे। स्त्रियाँ भी प्रायः उनके स्वभाव को समझ गई थीं इससे जहाँ उनका सम्पर्क था, स्त्रियों ने भी वहाँ उनके साथ संकोच छोड़ दिया था।

एक बार स्त्री, पुत्रियो सहित वे अहमदाबाद गए। वहाँ गुजराती स्त्रियों ने उनका निमंत्रण किया। वे भूमि पर ही खाने को बैठ गए। यद्यपि गुजराती स्त्रियां खाने पीने में बड़ा विचार करती हैं, कट्टर होती हैं पर उनके स्वभाव को जान कर संकोच, विचार छोड़ कर सब साथ खाने बैठ गईं। मि० दत्त को इस बात में बड़ा आनन्द आता था कि अन्यान्य जातियों की स्त्रियाँ एकत्र मिलें और अपने को समान तथा एक ही बिचारें।

मि० दत्त को ४०००) रु० तक मासिक वेतन मिला। उच्च से उच्च पद मिला पर अभिमान या दिखावट उनके पास नाम को न फटकने पाई। उनका स्वभाव बहुत ही सरल था। निरभिमानता कूट २ कर भरी थी। दुखियों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। अक्सर उच्च पद पाने और विलायत आदि जाने से लोग कुटुम्ब से पृथक् से हो जाया करते हैं। अपने ही स्त्री, पुत्रो से सम्बन्ध रखते हैं पर मि० दत्त मे यह बात न थी वे बराबर परिवार मे उसी भांति मिल कर रहते थे जैसे रहना चाहिए और बराबर सब की सहायता करते थे।

१—महात्मा महादेव गोविन्द रानाडे

संसार मे प्रायः समय २ पर ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते रहते हैं जो अपने जीवन को कृतियों से संसार के आगे आदर्श स्थापित कर जाया करते हैं। मनुष्य-समाज की सेवा करना, प्राणी मात्र को सुख पहुँचाना ही उनके जीवन का लक्ष्य रहता है। इसी प्रकार के पुरुषो से मनुष्य-समाज की असुविधाएँ दूर होती चली आई हैं।

हमारे देश के कर्मयोगी- न्याय-मूर्ति, देश-हितैषी, राजनीतिज्ञ महात्मा महादेव गोविन्द रानाडे भी ऐसे ही महापुरुषों मे हुए हैं। रानाडे का जन्म सन् १८४२ ई० मे नासिक ज़िले के पास निकाई नामक ग्राम में ब्राह्मण कुल मे हुआ था। आप के पिता अमृत राव जी वहीं, एक ज़मींदार के हेड क्लर्क थे। रानाडे की माता बड़ी विदुषी और सती साध्वी स्त्री थी। इसी कारण रानाडे का पालन-पोषण और संरक्षण बड़े अच्छे ढंग से हुआ। प्रारम्भ से ही आपके संस्कार अच्छे पड़ने लगे। बचपन से ही किसी प्रकार की बुराइयों का संसर्ग नही हुआ। १० वर्ष की आयु तक आप ग्राम पाठशाला मे ही देशी शिक्षा प्राप्त करते रहे। इसके पश्चात् कोल्हापुर मे आपकी अंग्रेज़ी शिक्षा प्रारम्भ हुई। ५-६ वर्ष वहाँ पर पढ़ कर आप बम्बई चले गए। वहाँ 'एलिफिंस्टन कालेज' में आपने एम्० ए० पास किया। आप का प्रिय विषय इतिहास था; उस में प्रथम नम्बर होने के कारण आप को स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। उसी साल आप बम्बई विश्व-विद्यालय

के सदस्य भी चुन लिए गए। दूसरे ही साल बड़े सम्मान के साथ आपने एल० एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। रानाडे अपने शिक्षा-काल मे ही अनेक विषयों में ऐसे पार-दर्शी हो गए थे कि उनकी समानता करने वाला विश्वविद्यालय मे कोई विद्यार्थी न था।

कालेज की शिक्षा समाप्त कर रानाडे सरकारी नौकरी मे प्रविष्ट हुए। शिक्षा विभाग में मराठी भाषा के अनुवादक का कार्य आपको दिया गया। फिर कुछ दिन एक राज्य के कर्मचारी रहे। इसके बाद आप उसी 'एलफिस्टन कालेज' मे अंग्रेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। यह पद आप के लिए बड़े महत्व का था। जिस समय कक्षा में आप व्याख्यान देते थे उस समय कई अंग्रेज प्रोफ़ेसर भी व्याख्यान सुनने के लिए उपस्थित हुआ करते थे।

रानाडे बड़े परिश्रमी थे; सब कार्यों मे शीघ्र तरक्की कर ले जाते थे। कानून अच्छा जानने के कारण आपकी इच्छा हुई कि इस का भी उपयोग किया जाय। आपने प्रोफ़ेसरी छोड़ दी; वकालत करने लगे और शीघ्र ही बम्बई हाईकोर्ट के रिपोर्टर हो गए। यही नही, इस के बाद सबार्डिनेट जज, प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, स्पेशल जज, आदि पदों को शोभित करते हुए भारतीयो के सर्वोच्च पद हाई कोर्ट के जज नियुक्त हुए।

रानाडे ने जिन पदों पर कार्य किया, बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से किया। गवर्नमेंट सदैव आपके कार्यों से अत्यन्त प्रसन्न रही और आपका आदर करती रही। जहाँ आपने गवर्नमेंट के कार्यों को योग्यता के साथ निबाहा वहाँ जाति-हित और देश-हित के भी अनेक कार्य किए और आदर्श उपस्थित किया। जहाँ कोई देश-कार्य आ पड़ता, आप पूरी तरह

से उस में योग देते। अच्छे और हितकर कार्यों में पीछे हटना तो आप जानते ही न थे। भय आप के पास होकर न निकला था। प्रार्थना समाज के मुख्य सदस्य, बम्बई सार्वजनिक सभा के अगुआ, जाति-सुधारक सभा के प्रधान मंत्री, विश्वविद्यालय सिनेट के सभासद, आदि बनकर अनेक सभा संस्थाओ मे आप बराबर कार्य किया करते थे।

रानाडे महोदय उन नरपुंगवों मे थे जो कहते कम है करते अधिक है। देश की स्थिति किस प्रकार सुधरे, जाति-हित किस प्रकार हो, किस प्रकार देश की कंगाली दूर हो, आदि बातो का अहर्निश चिन्तन और उनके दूर करने का उपाय हो रानाडे के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। आपको अद्भुत शक्ति-शालिनी लेखनी और अमूल्य समय, हमेशा परोपकार और देश की भलाई के लिए तैयार रहते थे। आप इस प्रकार के कार्यों में ही अपना जीवन धन्य समझते और कमाए हुए धन का सदुपयोग करते थे। जीवन के अन्त तक आप अपने उद्देश्य मे तत्पर रहे।

जिस बात को रानाडे अच्छी समझते उसे किसी के सामने कहने में कभी न हिचकते थे। आपका मत था कि देश की सभी कुरीतियाँ जब तक दूर न की जायंगी, उन्नति न होगी। मनुष्य का चरित्र-बल तभी बढ़ता है जब कुरीतियाँ दूर हो जाती हैं। और जब तक सामाजिक सुधार न हो जावे स्वराज्य-स्वत्वों की उच्चाभिलाषा करना व्यर्थ है। समाज सुधार के विषय मे जो मुख्य बात आप पेश करते थे वह यह थी कि "हमे धार्मिक सुधार की आवश्यकता है और वह विदेशी ढंग पर संगठित नही हो सकती। हमारे पूर्व-पुरुषाओं ने जो मार्ग दिखलाया है वही हमारे लिए श्रेय है। भारतीय सिद्धान्तों से पृथक् होकर चलना किसी प्रकार कल्याण-कारक नहीं।"

सामाजिक जीवन में विधवा स्त्रियों की दयनीय दशा देखकर आप के रोंगटे खड़े हो जाते थे। आपका खुल्लमखुल्ला प्रयत्न और प्रस्ताव था कि विधवा-विवाह का प्रचार और वृद्ध-विवाह तथा बाल-विवाह की रोक की जाय। विधवाओं की दशा सुधारने के लिए स्त्री-शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है। जब तक माताएँ ही सुशिक्षिता न होंगी, पुत्र शिक्षित होंगे कहाँ से ?

छुआछूत के आप बड़े विरुद्ध थे ; कहते थे—यह भिन्नता तो प्राचीन काल से ही नहीं पाई जाती है। सब वर्ण परस्पर एक सा व्यवहार करते थे। यदि हिन्दू जाति की ये बुराइयाँ शीघ्र दूर न हुईं तो इसे बहुत धक्का लगेगा। हम को प्रयत्न करना चाहिए कि सब बुराइयां शीघ्र दूर हों। इनसे हमारी बड़ी हानि हो रही है।

भारत की आर्थिक अवस्था के विषय में आपका कहना था कि "हमारे देश का व्यवसाय, वाणिज्य, शिल्प, कारीगरी, आदि बिलकुल नष्ट होती जा रही हैं, स्वतंत्र व्यवसाय बिलकुल नष्ट होते जा रहे हैं। उन्हे फिर जब तक हम नहीं अपनाते—आर्थिक समस्या हल नही हो सकती। राजनैतिक स्वत्वो को आप सब से पीछे रखते थे। समुद्र यात्रा को दोष नहीं समझते थे। देश की उन्नति के लिए उसे आवश्यक समझते थे।

भारत की कृषि के सुधार की ओर आपका विशेष ध्यान था। भूमि पर लगाए गए सरकारी कड़े नियमों का आप बड़ा विरोध करते थे और कृषि-उन्नति में उन्हे बाधक समझते थे। आपका कहना था कि नियमानुसार सरकार को भूमि-कर तो ले लेना चाहिए पर ज़मीन किसान से न बदली न छीनी जानी चाहिए; वह उसी के पास रहे।

रानाडे प्राचीनता के बहुत पक्षपाती थे। भारत-सुधार में

आप प्रत्येक बात प्राचीन ढंग से ही चाहते थे। कहते थे—"उससे ही हमारा और हमारे देश का उद्धार हो सकता है"।

आपने अपने जीवन के अन्त समय तक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति के लिए अनवरत प्रयत्न और परिश्रम किया। धन दिया, लेख लिखे, वड़ी वड़ी सभाओं मे व्याख्यान दिए।

महात्मा रानाडे हिन्दुओं की ही नहीं, भारत में रहने वाली प्रत्येक जाति की उन्नति चाहते थे और चाहते थे कि सब मिल जुल कर रहे। आप वड़े निरभिमानी और सीधे स्वभाव के थे, अपने को हमेशा सब से छोटा समझा करते थे, दीन दुखियों के प्रति आपको वड़ी दया थी। वेशभूपा की सजावट से आपको विशेष घृणा थी। आप हमेशा देशी ही पोशाक पहिनते थे। जज होने पर भी पैदल ही चलते थे। समय के तो इतने पावन्द थे कि आपको जाते देख कर लोग यह कहते थे कि अव इतना वजा है। आप मे अपने नाम की लिप्सा छू तक न गई थी। आप अपने विचारों के वड़े पक्के थे, विघ्न वाधाओ से ज़रा भी न घवड़ाते थे। आपका व्यवहार घर वाहर सर्वत्र समान था। माननीय गोखले रानाडे को अपना राजनैतिक गुरू मानते थे। सचमुच रानाडे अपने समय के एक आदर्श महा पुरुप थे।

दुःख है कि भारत के दुर्भाग्य से ६९ वर्ष की आयु मे ही भारतवासियों को अपार दुःख समुद्र मे छोड़ आप सदा के लिए संसार से चले गए।

रानाडे के जीवन की कितनी ही घटनाएँ है जिनसे हमको वहुत शिक्षा मिलती है।

एक वार आप पैदल कचहरी को जा रहे थे कि रास्ते मे लकड़ी का वोझा रक्खे हुए एक वुढ़िया मिली। उसने आपको

देखते ही कहा—" भगवान तुम्हारा भला करे, ज़रा इस बोझ को सिर पर रखवा दो "। आपने फौरन बोझ उठा कर उसके सिरपर रख दिया और चल दिए। उस दृश्य के देखने वाले रास्तागीर उनकी निरभिमानिता देख कर चकित रह गए। जब बुढ़िया को मालूम हुआ कि यह तो यहाँ का सब से बड़ा जज था तो वह बहुत विस्मित और लज्जित हुई।

एक बार रानाडे की माता ने आपको एक छोटा, एक बड़ा दो बर्फी के टुकड़े दिए और कहा—"ले, बड़ा तू खा ले और छोटा उस कहारी के लड़के को दे दे।" रानाडे ने फौरन ही छोटा टुकड़ा अपने मुँह में रख कर बड़ा टुकड़ा उस लड़के को दे दिया। माता यह देखकर बोलीं—" ऐं, तू ने यह क्या किया, तुझे तो मैंने बड़ा टुकड़ा दिया था; तूने उसे क्यो दे दिया ? " सरल स्वभाव बालक रानाडे ने कहा—"माँ, तू ने ही तो कहा था कि छोटा टुकड़ा तू खा ले बड़ा टुकड़ा उस लड़के को दे दे। मैं ने वैसा ही किया।" माता यह सुनकर गद्गद् हो गईं और बालक को छाती से लिपटा लिया।

एक बार रानाडे जब कोल्हापुर में जज होकर गए तो पुराना घनिष्ट परिचय होने के कारण बहुत से लोग अपनी पैरवी के लिए रानाडे के पिता के पास आया करते थे पर वे अक्सर टाल देते थे क्यो कि पिता को पुत्र का निस्पृह, न्याय-प्रिय स्वभाव मालूम था। एक दिन ऐसा मौका आ ही पड़ा। प्रतिवादी एक कुलीन घराने का प्रतिष्ठित व्यक्ति जो रानाडे का परिचित ही नही रिश्तेदार भी था उनके पिता के पास आया और बोला—"मुझे आपसे कहने मे बड़ा संकोच है पर संकट आ पड़ा है, अतः प्रार्थना है कि महादेव से कह दें—" मेरे कागज़ात वे एकबार देख ले क्योंकि उन्हीं की अदालत मे मुक़दमा है। " पिता लाचार होकर उसकी

प्राथना स्वीकार करते हुए उसे रानाडे के कमरे में लिवा गए और बोले—"इन्हे कुछ कहना है सुन लो।" रानाडे को कुछ उत्तर न देते देख वह बोला—"मैं अभी कागजात नही लाया। जरा उन्हें ले आऊँ" यह कहते हुए उठ कर चला गया। जब पिता जी भी उठकर चलने लगे तो रानाडे ने खड़े होकर नम्रता पूर्वक कहा—"कोल्हापुर मे तो सभी आपके परिचित हैं। आप कहाँ तक न्याय के प्रतिकूल पैरवी करेंगे इससे तो मै कर्तव्य-विमुख हो जाऊँगा या मजबूरन यहाँ से बदली करानी होगी।"

इसी से इन्हे कहते है 'न्याय-मूर्ति रानाडे'।

एक बार पत्नी सहित रानाडे देश का भ्रमण करते हुए कलकत्ते पहुँचे। वहाॅ अपने बँगले मे बैठे पत्नी से बातचीत कर रहे थे कि एक बँगला-अखबार बेंचने वाले ने आकर कहा—"कृपा कर इस पत्र के ग्राहक हो जाइए।"

पत्नी ने कहा—"भाई हम ने तो यह भाषा पढ़ी नही, अख़बार लेकर क्या करेंगे।" वह मनुष्य न माना, हठ करता गया, बोला—"बन ही जाइए।" तब रानाडे ने कहा—अच्छा आज दे जाओ, अब कल न आकर अगले सोमवार को आना।" वह अखबार देकर चला गया। तब उन्होंने पत्नी से कहा—"जहाँ हमे अधिक समय रहना है वहाॅ वालों से कहना कि हमे तुम्हारी भाषा नहीं आती लज्जा की बात है।" पत्नी ने कहा—"जब हम उस देश की नही तो ऐसा कहने मे क्या लज्जा। हमे मालूम होता है तुम हमें बंगला भी सिखा दोगे, अच्छी बात है। हम तयार है।" वे जानती थीं कि इन्हे ख़ुद अक्षर पहचानने के सिवा बंगला नहीं आती, इसी से यह हँसी की।

दूसरे ही दिन रानाडे जब घूम कर लौटे तो कुछ पुस्तकें लिए हुए एक आदमी साथ था। उसे दाम दिला कर रानाडे ने

विदा किया। स्त्री को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वे सब किताबें अंग्रेज़ी के सहारे बंगला सीखने की थीं। अब तो दूसरे दिन से ही रानाडे ने खुद बंगला का अभ्यास शुरू किया, साथ ही अपनी पत्नी को भी पढ़ाना शुरू किया केवल डेढ़ ही महीने मे उन्हे इतनी अच्छी बंगला पढ़ा दी कि वे ख़ूब पुस्तकें पढ़ने लगी। यह थी रानाडे की लगन।

एक बार दौरे मे शोलापुर के मुकाम मे आप बीमार हो गए। उसी समय हाई कोर्ट की जजी पाने का आपके पास परवाना आया जिसे आपकी स्त्री ने उन्हे न सुनाने दिया कि शायद प्रसन्नता की बात सुनकर आवेग मे तबियत ज़्यादा खराब हो जावे। पर दूसरे दिन मालूम हो जाने पर भी जब उन्होंने स्त्री से इस सम्बन्ध मे कोई जिक्र तक न किया तो रमाबई को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उनके जीवन चरित्र मे लिखती है—'इतने बड़े पद-प्राप्ति की भी बात जब मुझ से न कही तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही पहले दिन के—मना करने के—अनुमान पर हँसी और लज्जा आई कि मैं बड़ी पागल हूँ। अहर्निश साथ रहते हुए भी मैंने उनके स्वभाव को न पहचाना।

एक बार बम्बई मे घोर प्लेग था। रानाडे परिवार सहित गाँव को चले गए थे। इसी समय आपके एक नौकर काशीनाथ के गिल्टी निकल आई। वह चुपचाप अस्पताल चला गया और सरिश्तेदार को एक पत्र लिख दिया—"मैं बीमार हो गया हूँ, तीन चार दिन मे अच्छा हो जाऊँगा। रानाडे को यह ख़बर न होने पावे, नही तो वे दौड़े आवेंगे।" किसी तरह रानाडे की स्त्री रमाबाई को यह ख़बर लग ही गई। उन्होने फ़ौरन रानाडे से कहा और आप काशीनाथ को देखने के लिए आईं।

सहसा सामने देखकर, "आप यहाँ क्यो आईं? अच्छा नहीं

किया, जल्दी यहाँ से चली जाइए" काशीनाथ ने कहा। रमावाई ने कहा–"भाई, घवड़ाओ मत, डाक्टर साहव कल से आज तुम्हें अच्छा वतलाते हैं। वे (रानाडे) भी अभी आवेंगे।" काशीनाथ जोर से हँसा और डाक्टर की ओर इस प्रकार वर्राने लगा–"देखा? मेरे गुरु ने अपनी स्त्री को प्लेग के समय मुझे देखने को भेजा है, वे भी आवेंगे। कल भी आते पर उन्हें रात दिन काम से फुरसत नहीं मिलती। जवतक नींद नहीं आ जाती वे काम में ही लगे रहते हैं। मैं उनका रीडर हूँ, प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ, तुमने मुझे यहाँ क्यों कैद कर रक्खा है। छोड़ो, जाने दो, उनके साथ मुझे काम करने दो। क्यों मेरा समय वरवाद कर रहे हो। हटो, हटो।"

१०--महात्मा श्री गोपाल कृष्ण गोखले
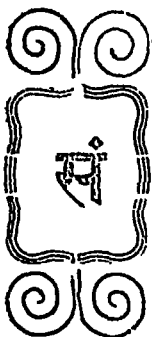
संस्कृत के एक श्लोक का अर्थ है—राज-भक्त, प्रजा-द्रोही और प्रजा-भक्त, राज-द्रोही समझा जाता है। इस बड़े समान महान विरोध के सम्मुख होने पर राजा और प्रजा दोनो ही का प्रिय मिलना दुर्लभ है।

स्वर्गीय महा पुरुष गोपाल कृष्ण गोखले ऐसे ही व्यक्तियो मे थे जो राजा प्रजा के लिए समान प्रिय थे। मातृ-भूमि के सच्चे पुजारी, देश के दयनीय दृश्यो से दयार्द्र-हृदय, दीन असहायो के बन्धु, राष्ट्र के सेवक और सर्वस्व माननीय गोखले आज हमारे बीच में नही है परन्तु उनकी पुण्य कृति ने उन्हे भारतीय इतिहास मे अमर कर दिया है।

सन् १८६६ ई० मे दक्षिण के कोल्हापुर प्रान्त मे एक ब्राह्मण के घराने मे आपका आविर्भाव हुआ। आपके पिता समृद्ध और सम्पन्न न होते हुए भी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। गोखले बड़ी प्रखर बुद्धि के बालक थे। पढ़ने लिखने मे सदैव तेज़ रहा करते थे। अठारह वर्ष की अवस्था मे ही आपने बी० ए० पास कर लिया। आपके पिता आदि की इच्छा इंजीनियर बन कर धनोपार्जन कराने की थी किन्तु जिसका चित्त सेवा-भाव से ओत-प्रोत है, जिसकी वृत्तियाँ किसी महान लक्ष्य को लक्षित किए हुए हैं, जिसकी क्रियाएँ आदर्श का पाठ पढ़ाना चाहती हैं; वह केवल धन-तृष्णा में, उसके विनष्टकारी ऐश्वर्य के भोगो में कब फँस सकता है। वह तो किसी दूसरे ही पथ का पथिक होता है।

जगमगाते हीरे

श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले

अस्तु, गोखले ने आजीवन पूना के प्रसिद्ध फर्गुसन कालेज की सेवा का व्रत धारण करलिया। केवल ७५) रु० मासिक निर्वाह मात्र लेकर इन्होंने उसमें कार्यारम्भ किया। आप अपने को उसका नौकर नहीं समझते थे वल्कि त्याग-मूर्त्ति होकर अपना सर्वस्व उसको अर्पित कर रक्खा था। उसके लिए घर २ भीख मांग कर लाखों रुपये संग्रह किए और आपने उसे उन्नत वनाया।

गोखले अर्थ-शास्त्र, इतिहास और गणित के प्रकाण्ड पण्डित थे। कालेज मे पढ़ाते समय इन विपयो की योग्यता का जैसा परिचय आपने दिया वैसा भारतवर्ष में तो क्या योरोप मे भी अल्प स्थानो पर ही पाया जाता होगा। आपकी विद्वता, गम्भीरता और कार्य-पटुता देख कर ही वम्वई विश्व-विद्यालय ने, केवल २७ वर्ष की अवस्था मे ही इन्हे विश्व विद्यालय का सदस्य वना लिया। जिनकी विद्वता पर भारतवासी आज भी गर्व करते है वे प्रसिद्ध विद्वान प्रिंसिपल श्रीयुत परांजपे इनके ही सुयोग्य शिष्यो में से एक हैं।

महामति महादेव गोविन्द रानाडे भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्नों में हैं। गोखले अपने को उन्हीं महादेव गोविन्द रानाडे का शिष्य मानते थे। क्योंकि राजनीति तथा अन्यान्य विपयो में गोखले को उनसे वहुत सी वाते ज्ञात हुई थीं।

गोखले ने आजीवन फर्गुसन कालेज की सेवा का व्रत लिया था परन्तु जैसे २ आपका सेवा-क्षेत्र वढ़ता गया वैसे २ आपको क्रिया-शीलता भी वढ़ती गई। सव से पहले वम्वई प्रान्त की राजनैतिक सभा मे भाग लिया। उस समय के आपके प्रभावपूर्ण सुन्दर भाषण को सुन कर श्रीयुत मुधोलकर ने कहा था कि "ये एक दिन एक महान् व्यक्ति होंगे और किसी दिन भारतवर्षीय राष्ट्र सभा के

सभापति-पद को सुशोभित करेंगे।" मुधोलकर जी की भविष्यद्वाणी अक्षरशः सत्य हुई। काशी में होने वाली राष्ट्रीय महासभा के सभापति आप ही थे। सभापति की हैसियत से अपनी वक्तृता मे आपने अनेक विषयो की अच्छी आलोचना की। स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। सरकारी शासन के भिन्न २ विभागो की कड़ी आलोचना की। कौंसिल सुधार और भारतीयों के अधिकारों के विषय पर जोर दिया।

धुरन्धर से धुरन्धर विद्वान भी आपसे वादविवाद करने की क्षमता नही रखते थे। आपके भाषण का प्रत्येक शब्द युक्ति और प्रमाण से पूर्ण होता था। विलायत मे आपके भाषणों को श्रवण करने के लिए इग्लैण्ड के बड़े २ विद्वान उत्सुकता पूर्वक पधारते थे और भाषण सुन कर चकित हो जाते थे।

एक बार नहीं, कई बार आप विलायत गए थे।

वाइसराय की कौंसिल के सदस्य होने के कारण आपको कालेज छोड़ना पड़ा। कालेज छोड़ते समय अपूर्व दृश्य था, प्रत्येक विद्यार्थी और अध्यापक का मुख-मण्डल प्रकट कर रहा था कि उससे जबरन उसकी कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु छीनी जा रही है। सन्तोष केवल यह था कि गोखले अपने आराम के लिए नहीं, प्रत्युत समस्त देश के आराम के लिए, कालेज छोड़ रहे थे।

आप देश के हित-चिन्तन मे सदैव प्रयत्नवान रहते थे, और साथ ही सरकार के भी प्रिय पात्र थे। सरकार ने आपको के० सी० आई० ई० की सब से बड़ी उपाधि से सम्मानित करना चाहा पर देश-दुर्दशा के नाते आपने उसे व्याधि समझ कर नम्रता-पूर्वक अस्वीकार कर दिया।

स्वदेश-सेवा के भावों से प्रेरित होकर म० गोखले ने एक

'भारत-सेवक-समिति' स्थापित की। हमारे देश में संस्थाओं की कमी नहीं है, बहुत सी संस्थाएं हैं। पर महात्मा गोखले की स्थापित 'भारत-सेवक-समिति' एक अनूठी संस्था है। इसके स्थापित करने का आपका उद्देश्य यही था कि इस मृत-प्राय देश के निवासियों के हृदय मे देश-सेवा, दुखी-सेवा, का भाव प्रबल हो जाय। कुछ तो ऐसे व्यक्ति पैदा हो जावें जो धार्मिक भाव से प्रेरित होकर भारत माता की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण कर दें। 'भारत-सेवक-समिति' के सदस्यों के आगे मुख्य पाँच बातें रहती हैं—

१. अपने वचनो और व्यवहार द्वारा सर्व साधारण में जन्म-भूमि के लिए प्रेम उत्पन्न करना। त्याग और सेवा से उसकी पूर्ति करना।

२. शिक्षा और आन्दोलन के कार्यों का संगठन करना और देश के लोकमत को बढ़ाना।

३. सभी जातियो से प्रेम और सहयोग करना।

४. शिक्षा-कार्यों के आन्दोलनो की सहायता करना।

५. अछूतों को उठाना।

इसी प्रकार सदस्यो को प्रविष्ट होते समय सात प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती है—

१. उसके हृदय मे प्रथम स्थान देश का होगा और अपना सर्वस्व त्याग कर उसकी सेवा करेगा।

२. देश-सेवा मे अपने व्यक्तिगत लाभ की चेष्टा न करेगा।

३. बिना किसी जाति अथवा धर्म का विचार किये समस्त भारतवासियो को वह अपना भाई समझेगा और सब की भलाई के काम करेगा।

४. समिति उसे तथा उसके परिवार को निर्वाह लायक जो वृत्ति दे सकेगी वह उसी मे सन्तुष्ट रहेगा। अपनी शक्ति का उपयोग धनोपार्जन मे न करेगा।

५. वह पवित्र जीवन व्यतीत करेगा।

६. वह किसी से व्यक्तिगत झगड़ा न करेगा।

७. समिति के उद्देश्यों का ध्यान रक्खेगा और उसके कार्य की वृद्धि करेगा। समिति के उद्देश्यो के विरुद्ध कभी कोई कार्य न करेगा।

प्रत्येक प्रान्त मे समिति की शाखाएँ हैं। और वे सफलता पूर्वक अपना कार्य कर रही हैं। उसके सदस्य अल्प मासिक वेतन ही लेकर कोई कृषको की अवस्था सुधारने, कोई मजदूरों की दशा सुधारने में संलग्न रहते है; कोई शिक्षा प्रचार मे, कोई सार्वजनिक सेवा मे अपना जीवन लगा देते हैं।

श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ वनर्जी आपको राजनैतिक ऋषि कहा करते थे। सन् १९०५ ई० में भारतवासियो को शोक समुद्र मे निमग्न कर आप स्वर्ग को चले गए। गोखले ने देश-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया था—यही कारण है जो आज भी हम श्रद्धा-पूर्वक उनका गुण-गान सुनने को उत्कण्ठित रहते हैं। गोखले को व्यावहारिक जीवन की घटनाएँ अनुकरणीय हैं :—

जब गोखले चौथी श्रेणी में पढ़ते थे तो एक दिन उनके मास्टर ने श्रेणी के कुल विद्यार्थियो को गणित के कुछ प्रश्न दिए और कहा "इन्हे कल घर से हल कर लाना" दूसरे दिन जब सवालों की कापी देखी गई तो किसी भी विद्यार्थी के सब सवाल शुद्ध न थे। गोखले को भी कापी इन्हीं मे थो और इनके सब सवाल बिलकुल ठीक थे।

"गोखले, तुम बड़े अच्छे लड़के हो, तुम्हारे सब सवाल सही हैं; चलो पहला नम्बर लो" कहते हुए मास्टर साहब ने गोखले की बड़ी प्रशंसा की और दूसरे लड़कों को बुरा भला कहा। गोखले अपनी अतथ्य विजय-प्रशंसा सुन कर सिसक २ कर रोने लगे। लड़कों और मास्टरों को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि इनके तो सब प्रश्न ठीक हैं, पहला नम्बर भी मिला फिर क्यों रोते हैं। सत्य रहस्य किसी ने भी न समझ पाया।

मास्टर के बहुत समझाने पर भी बालक गोखले का रोना बन्द न हुआ तो उन्होंने आपको अपने पास बुलाकर छाती से लगाते हुए कहा—

"बेटा! क्यों रोते हो, तुम्हारे तो सब सवाल ठीक हैं; तुम्हें पहला नम्बर भी मिल चुका। रोना तो इन बेशर्मों को चाहिए जिनके सवाल गलत हैं। चुप रहो, रोओ मत, जाओ पहला नम्बर लो, तुम तो बड़े अच्छे लड़के हो; रोने का क्या काम?"

अब तो गोखले बजाय चुप होने के और भी जोर २ से रोने लगे और मास्टर साहब के चरणों पर सिर रख कर बोले "मास्टर साहब! ये सब शुद्ध प्रश्न मेरे किए एक भी नहीं हैं, मैं ने सब दूसरों से पूछ २ कर कर लिए हैं। मैं प्रथम नम्बर पाने का अधिकारी नहीं हूँ। मैं आप से झूठ बोला हूँ और झूठी प्रशंसा पाई है। मैं अपराधी हूँ; मुझे दण्ड दीजिए।"

सब लड़के यह सुन आश्चर्य-दृष्टि से गोखले की ओर देखने लगे। मास्टर साहब तो बहुत ही प्रसन्न हुए और गोखले को गले से लगा कर दूसरे लड़को की ओर देखते हुए बोले—

"बालको! देखो सचाई इसे कहते हैं।"

महात्मा गोखले इतने से ही शान्त नहीं हुए। अपने आप

उस अपराध का दण्ड देने के लिए सप्ताह भर आप सब लड़कों से पीछे बैठते रहे।

कालेज मे पढ़ते समय गोखले महोदय ने केवल विद्योन्नति ही नहीं की किन्तु उनके स्वभाव मे और भी अनेकों परिवर्तन हो गए। पुराने खयालों के होने के कारण आप भोजन सम्बन्धी छूतछात के विचारों को बहुत मानते थे। जब कालेज में दूसरे विद्यार्थियों को विना रेशमी वस्त्र पहने साधारण वस्त्रों मे भोजन करते देखते थे तो बड़ा आश्चर्य होता था। खुद पीताम्बर धारण कर भोजन करते थे; पर यह नियम कब तक चल सकता था। प्रायः विद्यार्थियो का एक दूसरे के साथ छेड़ छाड़ करने का चञ्चल स्वभाव हुआ ही करता है। यद्यपि गोखले चञ्चल स्वभाव के नही किन्तु शान्ति प्रिय थे लेकिन जब वे भोजन करने बैठते थे तो लड़के विना छेड़छाड़ किये न मानते थे। सिर्फ मुँह से ही छेड़छाड़ करते हो यह बात नहीं। भोजन करते समय गोखले का चौका छू लेते थे। वस्त्र छू लेते थे। गोखले महोदय साथियों के इस व्यवहार से बहुत दुखी और क्रुद्ध हो जाते थे। परन्तु किसी से शिकायत न करते थे। आखिरकार अपनी उस आदत को ही छोड़ दिया। अन्य विद्यार्थियो के ही समान भोजन करने लगे। कहते हैं, जब कभी सामाजिक सुधार की चर्चा चलती तो गोखले जी कहा करते थे—"मैं अपने कालेज के मित्रों का विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझसे यह कट्टरपन और छुआछूत का भूत छुड़ाया"।

खेलने मे भी गोखले का बहुत अनुराग था। जब कभी वे ताश खेलते थे और उनका साथी ठीक तौर से न खेलता था तो बड़े नाराज़ हो जाते थे। जब कोई ठीक तौर से खेलता था तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहता था। बड़े प्रसन्न होते

थे और कहने लग जाते थे—"ये लोग मुझे जान बूझ कर छेड़ते हैं क्योंकि जानते है कि मै इनकी ऊटपटाँग वातो से चिढ़ जाता हूँ।"

वस्तुतः इसी सरल स्वभाव के कारण महात्मा गोखले पर अगणित व्यक्तियो की भक्ति और श्रद्धा हो गई थी।

जैसे उदार विचार महामना गोखले के थे वैसे ही विचार आपने अपने परिवार में भी फैला रक्खे थे। जिस समय वे इङ्गलैण्ड से वम्बई आए उस समय वम्बई मे आपका धूम धाम से स्वागत हुआ। अपार जन-समूह था। मारे भीड़ के—गोखले को लेने के लिए जो गाड़ी आई थी, अलग दूर खड़ी थी। म० गोखले की लड़की भी उनसे मिलने आई थी जो वहुत भीड़ होने के कारण अपने पिता से न मिल सकी। दूर से खड़े २ चुपचाप अपने पिता का स्वागत देख रही थी और मन ही मन प्रसन्न हो रही थी। उसी समय पास ही खड़े एक व्यक्ति ने उस लड़की से कहा—"तुम्हारे पिता अव हमारे पिता हो गए है, तुम्हारे नहीं रहे।" छोटी लड़की ने हॅसते हुए फौरन उत्तर दिया—"इसमे मुझे कुछ भी दुःख नही है; मै अव एक पिता के वदले मे इतने भाइयो को पाऊँगी।" वह व्यक्ति तो इस उत्तर से अवाक् रह ही गया। दूसरे पास के सुनने वाले भी उस छोटी लड़की के मुख को ओर देखने लगे।

दीन दुखियों और अनाथो की सेवा करने मे गोखले के जी को वड़ा आनन्द मिलता था। आप उसे अपना सौभाग्य समझते थे।

एक वार पूना मे प्लेग का भयङ्कर प्रकोप हुआ। लोग घर-वालों तक को छोड़ २ कर भाग गए। दयार्द्र-हृदय गोखले ने २४-२४ घंटे रात दिन रोगियों की सेवा-शुश्रूषा की। आपकी अपूर्व सेवा को देख कर तत्कालीन लाट ने कहा था—"प्लेग के

दिनो मे जहाँ बाप बेटा तक एक दूसरे को बीमारी की दशा मे छोड़ कर भाग जाते हैं; ऐसे वक्त मे गोखले ने विकट साहस का परिचय दिया है। छोटे २ मकानों मे घुस कर प्लेग पीड़ितो के पास पहुँच कर उनकी सेवा-शुश्रूषा करना अपूर्व साहसी व्यक्ति का ही काम है।" आपकी ऐसी त्यागमय सेवाओ को देखकर कट्टर विरोधी भी शान्त होकर प्रशंसा करने लगते थे।

जिस समय गोखले जी फर्ग्युसन कालेज से विदा हुए—आपको अभिनन्दन पत्र दिया गया तो विद्यार्थियो और कर्मचारियो की आँखें डवडवा आईं। गोखले जी ने अपने भाषण मे एक कहानी सुनाते हुए कहा—"यद्यपि इस समय मै कालेज मे हूं, मेरे साथी, जिनके साथ कार्य करने का मुझे गौरव प्राप्त है वे इतने उदार हैं कि मेरे दोषो को भी कुछ नही समझते। मेरी न कुछ सेवा को भी वहुत मानते है। तथापि मै सार्वजनिक जीवन के तूफ़ानी और अनिश्चित समुद्र पार जाने की ठान रहा हूँ। मुझे अपने हृदय से इस पथ के अनुसरण करने की प्रेरणा हो रही है। मैं केवल कर्त्तव्यवश देश-सेवा के लिए इस मार्ग का अवलम्वन कर रहा हूँ। इस देश में सार्वजनिक जीवन मे पुरस्कार बहुत कम है। हाँ, अनेक निराशाएँ और कठिनाइयाँ वहुत हैं।"

म० गोखले का ध्यान अछूत जातियो के उठाने की ओर सदैव रहता था। एकवार व्याख्यान देते हुए आपने अछूत जातियो की वर्त्तमान दशा पर अत्यन्त दुःख प्रकट किया था। कहा था—"हम कुत्ते विल्ली आदि चाहे जिस जानवर को छू लेते हैं। उन्हे गोद में उठा लेते हैं। हम मे कितने ही ऐसे होते हैं जो उन्हें चूमने तक में नही हिचकिचाते; इसमे कुछ भी परहेज या पाप नही समझते हैं; पर अछूतो को दुरदुराते है। छू जाने तक में पाप समझते हैं। यह कितने दुःख की वात है।" आपने

दर्शाया कि अछूत जातियों को उठाये बिना कभी राष्ट्र-निर्माण हो ही नहीं सकता।

महात्मा गोखले की मृत्यु पर भारत-निवासियों को तो बेहद दुःख हुआ ही था; बड़े लाट ने खेद प्रकट करते हुए कहा था—......उन्होंने सचाई, चमत्कारिणी योग्यता और विचित्र वक्तृत्व शक्ति से हिन्दुस्तानियों मे एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। वे राजभक्त थे पर चापलूस न थे, सरकारी कार्यों की निडर होकर आलोचना करते थे और उनके विरोधियों का उनके सामने ठहरना मुश्किल हो जाता था। दक्षिण अफ्रीका के जटिल प्रश्न की मीमांसा उन्हीं की राजनीतिज्ञता और बुद्धिमत्ता से हुई थी।

महात्मा गोखले का हृदय दीन दुखियो के प्रति कठोर वर्त्ताव होते देख कर दया से पिघल जाता था। आपने जब देखा कि भारतवर्ष के मज़दूरो को विदेशो मे भॉति भॉति के कष्ट दिए जाते हैं तब उन्होंने कौंसिल मे यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि विदेशों मे यहाँ से मजदूर न भेजे जावे। दक्षिण अफ़्रीका मे भारतवासियों को जो काले रंग के कारण बुरे भाव से देखा जाता था उसे दूर करने के लिए दक्षिण-अफ़्रीका के सत्याग्रह-संग्राम के समय आपने वड़ा भारी प्रयत्न किया। भारत के कोने २ में दिन रात घूम कर हज़ारो रुपया अफ़्रीकावासी हिन्दुस्तानियों के सहायतार्थ इकट्ठा किया और भेजा। जब तक वहाँ की समस्या हल न हो गई आप जुटे ही रहे।

महात्मा गोखले की प्रबल इच्छा थी कि भारतवर्ष में शिक्षा का ख़ूब प्रचार हो। यहाँ का बच्चा २ शिक्षा प्राप्त करे। कौंसिल मे उनके जो व्याख्यान होते थे उनमे प्रायः आप यह कहा करते थे कि सेनादि के अनावश्यक बिलों को घटा कर शिक्षादि जो प्रजा के कार्य हैं, उनमे ख़र्च करना चाहिए।

आपने अपनी अकाट्य युक्तियों से सिद्ध कर दिखलाया कि भारतवर्ष मे प्राथमिक मुफ्त शिक्षा का अनिवार्य होना अत्यन्त आवश्यक है। इस देश में अज्ञानता का प्रचण्ड राज्य है साथ ही यहाँ इतनी दरिद्रता भी बढ़ी हुई है कि अनेक व्यक्ति धनाभाव के कारण अपने बच्चों को शिक्षा नही दे सकते।

महात्मा गोखले एक अद्भुत प्रभावशाली वक्ता और आन्दोलक थे। सन् १९०५ में जब आप इंग्लैण्ड गये तो राजनैतिक आन्दोलन की धूम मचा दी। व्याख्यान देने शुरू किए। पचास दिन मे पैंतालीस व्याख्यान दिए। कितने ही लेख लिखे। पत्र-सम्वाद-दाताओ से मिलने पर प्रश्नोत्तर दिये और पार्लियामेंट के मेम्बरो से मिल कर भारत के दुःख की कथा सुनाते रहे। इससे उनके अथक परिश्रम का अनुमान किया जा सकता है।

महात्मा गोखले सच्चे साधु और संन्यासी थे। वे भगवे वस्त्र नहीं पहनते थे। कमण्डल और चिमटा नही बाँधते थे। पर संन्यास का जो लक्षण त्याग है वह उनमें कूट कूट कर भरा था।

एक बार आप कहीं जा रहे थे कि रास्ते में आपको एक बुढ़िया मिली जो जानती थी कि यह गोखले हैं। उसने इनसे पूछा—"क्यो भाई आप इतने बड़े और परिवार वाले आदमी होकर सिर्फ़ ७५) रु० मासिक से अपना खर्च किस प्रकार चलाते है?" इस पर गोखले जी ने कितना बढ़िया उत्तर दिया जो प्रत्येक पुरुष को हर समय याद रखना चहिए और उस पर मनन करते रहना चाहिए। आपने कहा—"मुझे आश्चर्य है कि आप इस प्रकार का प्रश्न करती हैं। देश मे ऐसे कितने ही पुरुष हैं जिनको दिन मे दो बार पूरा भोजन भी नहीं मिलता है। मै तो समझता हूँ यह मेरा खर्च बहुत ज्यादा है।" बुढ़िया यह सुन कर लज्जित और

चुप हो गई। ये थे महात्मा गोखले के उच्च भाव और उनका अपूर्व त्याग।

महात्मा गोखले अपनी प्रशंसा से बड़ी घृणा करते थे। एक बार मि० सी० एफ्० एण्ड्रयूज़ ने अपने विचारों में म० गोखले को भारत का एक मात्र उपयुक्त नेता प्रगट किया। म० गोखले को भी उक्त विचार पढ़ने को मिले। इसके बाद जब म० गोखले मि० एन्ड्रयूज़ से मिले तो एकान्त मे ले जाकर एन्ड्रयूज़ से कहा—"मै इसे अधिक पसन्द करूंगा कि आप मेरे लिए नेता शब्द न प्रयुक्त किया करे। मैं अभी नेता बनने के योग्य नहीं हूँ। 'नेता' शब्द आप दादा भाई नौरोजी, लो० तिलक, सर फ़ीरोजशाह मेहता, आदि के ही लिए प्रयोग किया करें। उन्होंने मातृभूमि की सेवा करके नेतृत्त्व प्राप्त किया है, मैंने अभी नहीं किया"।

११--ऋषि-कल्प श्री दादाभाई नौरोजी

षिकल्प, पूज्य पितामह दादाभाई नौरोजी वर्त्त-मान भारतवर्ष के कर्णधार, स्वराज्य सृष्टि के विधाता और देश तथा जाति के गौरव थे। उनका निर्मल पवित्र चरित्र विरले ही किसी लिखे-पढ़े व्यक्ति को न ज्ञात होगा। सचमुच उनका पवित्र चरित्र हमारे लिए जीवन-पथ-प्रद-र्शक है।

माननीय दादाभाई नौरोजी का जन्म सन् १८२५ ई० मे बम्बई मे एक प्रसिद्ध पारसी पुरोहित के घर में हुआ। नौरोजी को अपने पिता जी की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। जन्म के चार वर्ष बाद ही आपके पिता स्वर्ग सिधार गये थे। माता आपकी बहुत कम पढ़ी लिखी और साधारण स्त्री थीं, लेकिन थी बड़ी बुद्धिमती। अपने ही ऊपर पूर्ण भार आ पड़ने पर पुत्र के शिक्षण आदि का बहुत उत्तम प्रबन्ध किया।

बम्बई नगर में उस समय शिक्षा का अधिक प्रबन्ध न था। जो कुछ भी था, माता ने उसी के अनुसार बालक नौरोजी को शिक्षा दिलवाने का यत्न किया। इस कार्य मे नौरोजी को अपने मामा से पूरी सहायता मिली। आप की बुद्धि तीव्र थी ही, एलफिन्स्टन कालेज मे भर्ती हुए और मन लगा कर पढ़ना प्रारम्भ किया। आप अपनी कक्षा में हमेशा सब विद्यार्थियो में अव्वल रहे। कई बार अच्छे २ पारितोषिक प्राप्त किए। अध्यापक वर्ग व

जगमगाते हीरे——

ऋषिकल्प दादाभाई नौरोजी

सहपाठी आप से सदैव बहुत प्रसन्न रहते थे और आपकी बुद्धि की हमेशा तारीफ किया करते थे।

कुशाग्र-बुद्धि नौरोजी ने २० वर्ष की अवस्था में ही अपनी पढ़ाई समाप्त कर दी और तीन चार वर्ष बाद 'रास्तगुफ़ार' नामक पत्र निकाल कर लोक-सेवा का परिचय दिया। फिर २-३ वर्ष बाद आप एल्फिन्स्टन कालेज में ही गणित जैसे गंभीर विषय के मुख्य अध्यापक हो गए। देश-हित-चिन्ता तो आपको व्यग्र किए ही थी, वह चैन कहाँ लेने देती थी। अध्यापकी के साथ साथ आपने समाजोपयोगिनी संस्थाओं को जन्म देना प्रारंभ किया। कन्या पाठशाला, बम्बई एसोसिएशन, पुनर्विवाह सभा, साहित्य और विज्ञान सभा, पारसी व्यायाम गृह, ईरानी फंड आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना की। आपके अदम्य उत्साह, अथक परिश्रम, अद्भुत दृढ़ता और देश-हित की उत्कट अभिलाषा को देख कर लोग चकित होते थे।

आप कभी उत्साह भङ्ग होना तो जानते ही न थे। एकनिष्ठ देश-सेवा-व्रत आपके जीवन का लक्ष्य था। आप केवल वक्ता न थे किन्तु अपने रचनात्मक कार्य के द्वारा बड़े २ युवकों को लज्जित करते थे और उन्हे कर्त्तव्य-पथ में अग्रसर कर देते थे।

निराशा राक्षसी अपने दाँत सदैव आप पर गड़ाए रहती थी पर आप साहस-पूर्वक उसका सामना करते थे। बार २ उसे उलटे मुँहकी खानी पड़ती थी। एक बार आपने अति सन्तप्त होकर कहा था :—

"समय समय पर जैसा मुझे इस पथ-भ्रष्टा दुष्टा निराशा का सामना करना पड़ता है यदि वैसा ही किसी दूसरे को करना पड़ता तो निश्चय यह उसका हृदय टूक टूक कर देती।"

माननीय दादा भाई जी अपने जीवन काल में पाँच बार विलायत गए। प्रथम बार ही लन्दन में जाकर जब आपको मालूम हुआ कि भारतवर्ष के कर्त्ता-हर्त्ता और विधाता इन श्वेताङ्गों को भारत सम्बन्धी ज्ञान बहुत कम है, तो इस कमी को पूरा करने के लिए और भारत का सच्चा ज्ञान कराने के लिए आप उद्योग करने लगे। आपने वहाँ इण्डियन एसोसिएशन, ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन, आदि सभाओं को जन्म दिया। इनमे भारत का हित चाहने वाले सभी देशी विदेशी सज्जन सम्मिलित होते थे। समिति से एक सामयिक पुस्तक प्रकाशित होती थी। बड़े २ अँगरेज़ और हिन्दुस्तानी सज्जन भारत-सम्बन्धी आन्दोलन करने के लिए समिति में लेख आदि पढ़ा करते थे। दादाभाई जी समिति की ओर से सारे देश में घूम २ कर सभाएं करते और उनमे भारत के सम्बन्ध में विद्वतापूर्ण व्याख्यान देते थे।

इस प्रकार इंगलैंड के समाचार पत्रों, मासिक-पत्रिकाओं, सभाओं और भिन्न २ समितियों द्वारा उन्होंने वहाँ के लोगों को भारत के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करा दिया।

आप विलायत में बहुत समय तक रहे। देश-सेवा के भावों से प्रेरित होकर नौरोजी ने विलायत की पार्लियामेंट का मेम्बर बनना चाहा और वहाँ जाकर इसके लिए जी जान से पूरी कोशिश की। उदार दल वालो के पक्ष का समर्थन किया पर अन्त में उदार दल वालों की चुनाव में हार हुई और आप भी मेम्बर न हो सके।

इससे यह न समझना चाहिए कि दादाभाई जी हारने से हिम्मत हार कर बैठ रहे या निराश होकर उद्योग छोड़ दिया। स्वदेश लौट कर यहाँ कुछ कार्य किया और फिर इंगलैंड

पहुँचे। पहुँचते ही फिर ज़ोरों से उद्योग शुरू कर दिया और अन्त में पार्लियामेंट के सदस्य होकर रहे।

आप ही पहले भारतवासी थे जिन्होंने अपने अपूर्व साहस बल से बृटिश पार्लियामेट की सदस्यता प्राप्त की, और भारत-हित सम्बन्धी अनेक उपयोगी कार्य किए। सचमुच आपकी इस सफलता से भारत का सिर ऊँचा हो गया।

नौरोजी ने हिन्दुस्तान की आर्थिक दशा पर विचार करने के लिए दो एक विदेशी मित्रो की सहायता से पार्लियामेट-कमेटी नियुक्त करवाई। उसमे आपने देश को बढ़ती हुई दरिद्रता और कर का अधिकता के विषय मे अपना मुख्य वक्तव्य पेश करते हुए ज़ोरदार शब्दो मे भारत-सुधार की आवश्यकता प्रकट की।

आपका त्याग अपूर्व था। देश-सेवा के लिए आप अपना सर्वस्व अर्पण किए हुए थे। जब आप विलायत से लौट कर आए तो बम्बई-निवासियों ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया और सम्मान प्रदर्शनार्थ ३० हज़ार रुपये की थैली आपको भेट की। पर निस्पृहता के अवतार, त्यागमूर्ति दादाभाई जी उसे कब स्वीकार करने वाले थे। वह थैली आपने देश-हित कार्यों के लिए समर्पित कर दी।

जिस बड़ौदा रियासत का नाम आज समस्त देशी रियासतों मे आदर्श-रूप गिना जाता है उसका अधिक श्रेय दादाभाई नौरोजी को भी है। वहाँ का राज्य-प्रबन्ध बहुत दिनों से बिगड़ा हुआ था। राज्य की अनेक प्रकार का बुराइयो को दूर कर के सुप्रबन्ध की व्यवस्था करना वहाँ कठिन काम था। सरकारी रेज़िडेंट नौरोजी के कार्यों से सहमत न थे। पर दादाभाई जी इन बातों की या बाधाओं की कब परवाह करनेवाले थे। आपने इन बातो को अपने कार्यों में ज़रा भी बाधक न समझा। स्वाभाविक दृढ़ता के साथ

राज्य-प्रबन्ध का सुधार करना शुरू किया। अन्त में दो वर्ष के भीतर ही राज्य भर मे ऐसी सुव्यवस्था कर दी कि केवल सारी प्रजा ही बहुत प्रसन्न नही हुई किन्तु भारत-मंत्री ने भी आपके कार्यों से बहुत प्रसन्न होकर आपकी प्रशंसा की।

आपने अपने मंत्रित्व काल में यह चरितार्थ कर दिखाया कि राज्योन्नति का विशेष दायित्त्व मंत्री पर ही होता है।

नौरोजो में विलक्षण सूझ थी। बम्बई कार्पोरेशन के जिस समय आप सदस्य थे उस समय आपने ही उसे लाखों की क्षति से मुक्त कराया था।

आपका आदर सर्वत्र समान था। जिस पूज्य दृष्टि से आप भारत मे देखे जाते थे उसी दृष्टि से आपको विलायत वाले भी देखते थे। विलायत के कितने ही गण्य मान्य व्यक्तियों ने आपकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। पार्लियामेंट के सदस्य तक आपका यश गान करने से नहीं चूके हैं।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने तीन बार सभापति के उच्च आसन पर सुशोभित कर आपको सम्मानित किया और अपनी गुण ग्राहकता का परिचय दिया। दो बार तो आप कलकत्ता कांग्रेस के मनोनीत सभापति हुए; एक बार लाहौर कांग्रेस के सभापति हुए। वहां आपका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। तीनों अधिवेशनों में सभापति के नाते आपने जो वक्तृताएँ दीं वे केवल राष्ट्रहितैषी ही नहीं बल्कि प्रत्येक भारतवासी के पढ़ने योग्य और मनन करने योग्य हैं। कलकत्ते की कांग्रेस में तो आपकी सारगर्भित वक्तृता ने भारतवासियों के हृदय में अपूर्व उत्साह भर दिया था। नए जीवन का सञ्चार हो गया था।

आप के भाषण का प्रत्येक शब्द हृदय से निकला हुआ सच्चा उद्‌गार होता था। आपका कहना था कि—"एक हो जाओ,

दृढ़ता से कार्य करो। वह हक़ प्राप्त करो जिससे लाखो आत्माएं बचाई जा सकें जो कि दरिद्रता अकाल और प्लेग से नष्ट हो रही हैं। जिससे उन करोड़ों आदमियो को पेट भर भोजन मिल सके जो भोजन विना भूखों मर रहे हैं और जिससे भारत को संसार के सर्व-श्रेष्ठ सभ्य राष्ट्रो में फिर वही गौरवान्वित स्थान मिल सके जो प्रचीन समय मे उसे प्राप्त था।

एक सार्वजनिक और सच्चे नेता में जो गुण होने चाहिए वे प्रायः सभी दादाभाई नौरोजी में विद्यमान थे। अपूर्व स्वार्थ त्याग, असीम देश-भक्ति, अदम्य उत्साह, सतत उद्योग, अलौकिक आशानुगतिका, दृढ़ता और धैर्य उनमें प्रारम्भ काल से ही थे और वे आजीवन वैसे ही रहे।

भोजन के अनन्तर दादाभाई जी थोड़ी शराव पिया करते थे। एक दिन भोजन से उठते ही आपने देखा कि घर में शराव नहीं है। आप घर से शराव लेने चले। दूकान पर पहुँचते ही आपको इतनी लज्जा मालूम हुई कि उसी समय से केवल शराव पीना ही नहीं छोड़ा वल्कि तव से आप कभी किसी शराव की दूकान पर खड़े तक न हुए।

अंगरेज़ी के जिस स्कूल में दादा भाई पढ़ते थे उसमें दो अङ्गरेज़ अध्यापक पढ़ाते थे एक साहित्य पढ़ाता था दूसरा गणित सिखलाता था। दोनो में किसी कारण अनवन हो गई। दोनों ने अपनी अपनी कक्षाओं को वॉट लिया। दादाभाई जी गणित पढ़ाने वाले की कक्षा में पड़े। अध्यापक जी वहुत सुस्त थे, कुछ पढ़ाते लिखाते न थे। अतएव दादाभाई नौरोजी भी अपनी कक्षा के सव विद्यार्थियों को इकट्ठा कर के खूव कहानियाँ कहा करते थे। कहानियाँ कहने में आप वड़े होशियार थे। जो कहानी कहीं पढ़ते वही याद हो जाती थी। पूरा साल इन्होंने कहानियाँ कहने में

ही बिताया। लड़के आने से बड़े खुश हुए और सबने आपको अपना अगुआ बना लिया।

एक बार इम्तिहान के समय लोगो ने एक रद्दी लड़के को समझा कि यह सब से बाज़ी मार ले गया क्योंकि उसने किताब खूब रट ली थी पर जबसे बाहरी प्रश्न उससे पूँछा गया तो चुप, दादाभाई जी ने उसे फौरन बतला दिया। लोग आपके उत्तर से बहुत खुश हुए और इम्तिहान का पहला इनाम नौरोजी को ही मिला।

दादाभाई नौरोजो का यह कहना है कि "मै नौकरी की खोज में ज्यों ही पड़ा मुझे एक सरकारी नौकरी मिल गई। पर मेरे मार्ग में ऐसी बाधाएँ आई कि सरकारी नौकरी करने का विचार ही छोड़ना पड़ा। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है जब मैं स्मरण करता हूं कि सरकारी नौकरी के फन्दे मे न फँस कर मैंने अपना जीवन अपने देश-हित के कार्यों मे लगाया।"

एक पारसी सज्जन ने (जिनका दादाभाई जी से अधिक संसर्ग रहा है) लिखा है कि—दादाभाई नौरोजी का स्वभाव बहुत ही सरल और शान्त था। बातचीत मे आप के स्वभाव की सरलता टपकती थी आप बच्चे से लगा कर बूढ़े तक सब के साथ उत्तम और उचित व्यवहार करते थे। बच्चे के साथ बच्चे और बूढ़े के साथ बूढ़े बन जाते थे। अभिमान तो आपको छू तक नहीं गया था। आप जिस समय बातचीत करते थे तो सुनने वाले मुग्ध हो जाते थे। आप परिश्रम करते हुए कभी थकते ही न थे। जब किसी काम मे लग जाते थे तो बिना पूरा किए उसे छोड़ते ही न थे। केवल कठिन परिश्रम ही नहीं, वे मनोविनोद करना भी जानते थे। मित्रता के निबाहने मे दादाभाई नौरोजी के जैसा शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति रहा हो। आप मित्रता के मूल्य को अच्छी तरह समझते थे

और की गई मित्रता को अक्षुण्ण रखना आप सबसे अधिक आवश्यक समझते थे।

एक व्यक्ति को दादाभाई नौरोजी ने चार हज़ार रुपये किसी काम के लिए दिए। वह व्यक्ति रुपये खा गया। दादाभाई को कुछ भी नहीं दिया। लोगो ने दादाभाई जी से कहा—"आप इस पर मुकद्दमा क्यो नही चलाते"? दादाभाई जी ने हँस कर उत्तर दिया, "मुकद्दमा चलाना ठीक नहीं, यदि एक मित्र अपने कर्त्तव्य से गिर गया तो क्या दूसरे मित्र का यह कर्त्तव्य है कि वह भी अपने कर्त्तव्य से गिर जावे? नहीं, कभी नही नौरोजी मैं मुकद्दमा नहीं चलाऊँगा"। सलाह देने वाले नौरोजी के उत्तर को सुनकर अवाक् रह गए।

नौरोजी ने अपने जीवन की विशेष २ घटनाओं का उल्लेख एक पुस्तक में किया है। उसी से हम कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिस से पता चलेगा कि उनके विचार कितने उच्च थे।

बचपन मे दादाभाई नौरोजी को जो कोई गाली देता या उनसे कोई बुरी बात कहता था तो उसे आप जवाब देते थे कि तुम्हारी बुरी बात तुम्हारे मुंह मे रह जायगी; मेरा उससे कुछ भी नुकसान न होगा"।

दादाभाई को पहाड़े बहुत याद थे। इसी से आप शीघ्र ही मौखिक सवालो का उत्तर बतला देते थे। जब आप अपने स्कूल मे सब लड़कों के साथ लाइन बाँध कर खड़े होते थे और अध्यापक के किए हुए प्रश्नो का धड़ाधड़ उत्तर देते जाते तो सड़क पर सुनने वाले बड़े प्रसन्न होते और आपकी वाहवाही करते थे।

जब दादाभाई नौरोजी पन्द्रह बरस के थे तभी से आप मे अपने जीवन-सुधार के विचार पैदा हुए थे। आपने लिखा है कि—"एक दिन एक खास स्थान पर बैठ कर मै ने प्रतिज्ञा की कि आज

से कभी कोई बुरी बात मैं अपने मुँह से न निकाला करूंगा। उसी समय मेरे मन में बुरी बातों के छोड़ने और अच्छी बातों के ग्रहण करने का भाव भी पैदा हुआ। मैं आज तक अपनी इस प्रतिज्ञा को दृढ़ता के साथ पालन कर रहा हूं"।

९२ वर्ष की अवस्था में भारतवासियों को तीव्र-वेदना से व्यथित करते हुए भूलोक त्याग आप स्वर्ग लोक पधारे। आबाल, वृद्ध, नर नारी सभी को आप की मृत्यु से आन्तरिक दुख हुआ। वर्त्तमान भारत के आप पहले शिक्षित पुरुष थे, जिन्हों ने बारम्बार आपत्तियों का सामना करते हुए अगणित शारीरिक और मानसिक कष्ट सह कर भी दीर्घ आयुष्य का भोग किया। देशहित चिन्ताओं के अतिरिक्त अन्य व्याधियाँ आजन्म आप से दूर रहीं। मृत्यु के समय भी स्वाभाविक जीर्ण शीर्णता के अतिरिक्त अन्य कोई रोग आपको न था। दादाभाई आज हमारे बीच में नहीं हैं पर उनकी कीर्ति ने उन्हें अमर बना दिया है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में उनका अमिट नाम स्वर्णाक्षरों में सब से ऊपर लिखा हुआ रहेगा।

१२--डाक्टर सर सुब्रह्मराय अय्यर

सच्चे जीवन का सन्देश लानेवाली आत्माएँ सदैव इस संसार में अमर रहती हैं। भावुक संसार के लिए आत्मा और भाव ही प्रेरक हैं। हृदय पर आदर्श का चित्र खींचने वाले ये भाव ही मानसी तत्त्व के सूक्ष्म कण हैं। पंचतत्त्व का अस्तित्त्व भले ही मिट जाय पर भावों का असर अमिट है। आदर्श का सूर्य सदा ही अपने प्रकाश से संसार को प्रकाशित करता रहता है। चरित्रों को सीखने की इच्छा रखने वाली आत्माएँ ऐसी ही महानात्माओं की ओर आकर्षित हुआ करती हैं। भारतवर्ष मे कितनी ही महानात्माएँ दूसरों के लिए अपना चिर-प्रकाश फैला गई है। ऐसी ही आत्माओं मे डा० सुब्रह्मण्य अय्यर का भी नाम लिया जाता है।

सर सुब्रह्मण्य अय्यर का जन्म सन् १८४२ ई० में मद्रास प्रान्त के मदुरा नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता श्री सुब्बा अय्यर एक ज़िले के ज़मीदार के यहाँ वकील थे। बालक सुब्रह्मण्य को पिता का सुख न बदा था, पितृ-सुख से वंचित होना ही उनके लिए लिखा था। अय्यर अभी दो ही वर्ष के थे कि पिता इनका मोह छोड़ कर संसार से चले गए। अय्यर के पालन-पोषण का भार दुःखिनी माता पर ही आपड़ा जो पति की मृत्यु के अनन्तर पचपन वर्ष तक जीवित रहीं। अय्यर के एक बड़े भाई रामस्वामी अय्यर थे। पिता के मर जाने से गृहस्थी का भार रामस्वामी ने संभाला।

अय्यर पहले मदुरा की पाठशाला में ही पढ़ने के लिए बैठाये गये। जब वे चौदह वर्ष के थे तभी एक "न्यू ज़िला स्कूल' खुला जिसके अध्यापक एक अंग्रेज़ महाशय थे। अय्यर भी उन्ही के पास पढ़ने लगे। साथ ही छात्र वृत्ति भी प्राप्त की। तत्कालीन कलेक्टर इनकी चमत्कारिक बुद्धि देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बीस रुपये मासिक की एक नौकरी दे दी।

नौकरी मिल जाने से हमारे चरित-नायक ने पढ़ना नही छोड़ा। पढ़ना बराबर जारी रक्खा और बड़ी योग्यता के साथ २६ वर्ष की अवस्था में बी० एल० की परीक्षा पास की। परीक्षा पास करते ही तहसीलदारी का पद मिला पर इस प्रकार की नौकरी उन्हें पसन्द न आई और उसे छोड़ कर वकालत करने लगे।

मदुरा मे सर सुब्रह्मण्य अय्यर ने अपनी वकालत इतनी चमकाई कि बड़े २ जज और मजिस्ट्रेट वगैरह तक उनका लोहा मानने लगे और प्रशंसा करने लगे।

अपनी योग्यता के कारण अय्यर जी मद्रास प्रेसीडेन्सी कौंसिल के गैर-सरकारी मेम्बर मनोनीत हुए। देश भर मे ये सबसे पहले भारतीय प्रतिनिधि थे जिन्होंने कौन्सिल की मेम्बरी प्राप्त की। कौंसिल के मेम्बर होने पर भी प्रजा के भावों को सरकार तक पहुँचाने में हिचकिचाते न थे। बड़ी निर्भीकता से व्यक्त करते थे सरकारी भावों को भी बराबर प्रजा के समक्ष रखते रहते थे। मि० जी० अय्यर ने लिखा था कि—"मद्रास प्रान्त में मि० सुब्रह्मण्य अय्यर से बढ़ कर और कोई व्यक्ति नहीं है जो इतनी स्पष्टता के साथ जनता के मत को प्रगट कर सके।"

कौंसिल की मेम्बरी का अनुभव करने के पश्चात् अय्यर जी ने मि० ह्यूम और दादा भाई नौरोजी आदि का साथ दिया और कांग्रेस में अपनी वक्तृता द्वारा भाव-पूर्ण विचार प्रगट किए।

धीरे २ अय्यर मदुरा से आकर मद्रास में रहने लगे और विशेष रूप से सार्वजनिक सेवाओं में संलग्न हुए। वकालत करते हुए भी वे सचाई और न्याय का बड़ा ध्यान रखते थे। क़ानूनी बहस के समय उनके मुख से सच्ची बातें, सच्चे बयान, दलीलें और न्याय-गौरव की रक्षक बातें अपने आप सत्यता के उस स्थान से निकलती थीं जहां पर अय्यर ने उनको वास्तविक स्थान दे रक्खा था। अपनी सत्य-प्रियता के कारण कभी २ वे सार्वजनिक सम्मति की भी परवाह न करते थे। और सचाई प्रगट करते हुए साहस का परिचय देते थे। वे अपने दिमाग़ से निकले हुए सिद्धान्त और निर्णय को ही मानते थे। एक बार कुछ ऐसा ही जाति-गत भेद-भाव जोरों से फैला। एक पक्ष इनका अन्ध भक्त था, दूसरा दूसरे का। तब ये बिलकुल निष्पक्ष हो गए; न इधर के रहे न उधर के। हरेक व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक मामले में झूठ प्रमाणित होने के डर से फिर वे निष्पक्ष बन जाते थे।

सरकारी न्यायालय तक इनकी इस गुण की प्रशंसा करते थे और आदर देते थे। धीरे २ ये हाई कोर्ट के जज नियुक्त किए गए।

जजी पर नियुक्त होकर इस पद का कार्य भी अय्यर ने बड़ी कुशलता से निबाहा। प्रसिद्ध पत्र "हिन्दू" ने लिखा था—"सुब्रह्मण्य अय्यर के अतिरिक्त मद्रास प्रेसीडेन्सी मे कोई भी ऐसा भारतीय सज्जन नहीं है जिसपर जनता का इतना अधिक विश्वास हो या जिसने सर्व-साधारण की इतनी अधिक प्रियता प्राप्त की हो। इन्होने अपनी अमूल्य सेवाओं और तल्लीनता के स्वभाव द्वारा जनता के हृदय में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। कई वर्षों से यही एक सज्जन ऐसे उदाहरणस्वरूप हैं जो जनता और सरकार दोनो ही के विश्वास-पात्र हैं।"

अय्यर ने अपने जजी काल में "हिन्दू" के इस कथन को अक्षरशः चरितार्थ कर दिखलाया। कई ऐसे मार्के के क़ानूनी सुधार किए कि जिनसे हिन्दू जाति के, विशेष कर स्त्रियों के, हक़ों का विशेष हित हुआ।

सर सुब्रह्मण्य अय्यर यदि आठ मास और जजी का कार्य करते तो पाँच हज़ार साल पेंशन पाने के अधिकारी हो जाते। पर इधर कई वर्ष से आँखे बिगड़ चलीं थी जिससे विवशतः कमज़ोरी के कारण बीच में ही इस्तीफा दे दिया। सरकार ने प्रसन्न होकर इन्हें सर, एल० एल० डी०, के० सी० आई० ई० आदि की उपाधियाँ दी। स्वयं सम्राट् ने प्रतिष्ठित सरकारी अफसरों के साथ सुब्रह्मण्य अय्यर की गणना और सेवाओं की बहुत २ प्रशंसा की। अय्यर जी ने इस्तीफा देकर अपना शेष जीवन धार्मिक और देश-सेवाओं के लिए अर्पित कर दिया। शारीरिक पवित्रता अथवा दिखाऊ स्वच्छता को ही वे धर्म न मानते थे। बल्कि उस पवित्र उद्दिष्ट मार्ग को जो नैतिक और आध्यात्मिक पवित्रता के साथ २ विश्व की सम-सहयोगिता का मंत्र हृदयो में फूँकता है, धर्म समझते थे। वे समझते थे—धर्म मनुष्य मात्र या केवल मनुष्य योनि के नीचे पशु-पक्षियों की ही अन्ध-सहयोगिता की सहायता के लिए ही नहीं प्रेरित करता बल्कि वह पवित्र आदर्श, वह उच्च मार्ग और आध्यात्मिक भाव जो प्राणी मात्र के उचित कल्याण के लिए, उचित सेवा के लिए पूर्ण अधिकारी है, प्रेरित करता है। लौकिक जीवन का परित्याग कर स्वार्थ को बलि देकर धर्म के इस प्रकार का झोला टांग लेना कोई खेल नहीं है।

सर सुब्रह्मण्य अय्यर ने धीरे २ अपने कार्य-क्षेत्र को बढ़ाया। आरम्भिक संगठन मे उन्होंने कट्टर हिन्दुओं में सामाजिक और पवित्र धार्मिक भावो को फैलाने के लिए एक सभा स्थापित की। एक शुद्ध-धर्म-मण्डल पुस्तक माला प्रकाशित करवाई। उन्होंने

थियोसफ़ी मत की संस्थापिका मैडम ब्लेवस्की के ग्रन्थों का बड़ी गंभीरता से अध्ययन किया और यह समझा कि इसकी बातें हिन्दू धर्म की विरोधी नहीं, इससे हिन्दू धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। और इसी से मिसेज एनी बीसेण्ट का समर्थन किया साथ ही सहायता भी दी। सर सुब्रह्मण्य अय्यर ने राष्ट्रीय धर्म का भी पूर्ण रीति से पालन किया। समय २ पर सरकार की अनुचित कार्रवाई का विरोध किया। राष्ट्रीय धर्म के पालन के लिए उन्होंने बड़ी सरगर्मी के साथ कार्य किया। जिन २ सभाओं में वे सभापति बने, समाचार-पत्रों में जो २ लेख या पत्रादि छपाए, जिसे २ पत्र लिखे और जो जो फंड जमा किए वे सब उनके राष्ट्रीय धर्म पालन की पूरी साक्षी देते हैं। अस्सी वर्ष की आयु, शरीर की कमजोरी, आँखों की क्षीणता कि हस्ताक्षर तक करना कठिन, पर अदम्य साहस और देश सेवा के प्रशंसनीय कार्य, यह सुब्रह्मण्य अय्यर सरीखे महान व्यक्ति का ही कार्य था।

दूसरों की सहायता से चल फिर कर, दूसरों से (बोल २ कर) लिखवा कर नव जवान मनुष्यों की तरह परिश्रम करना, सैकड़ों आए पत्रों का सुनना, उनका उत्तर लिखवाना, आन्दोलन का क्रम निर्धारित करना, देश में आन्दोलन के लिए भिन्न २ सभा समितियों को अपनी सम्मतियाँ व आदेश भेजवाना, सुब्रह्मण्य अय्यर का ही कार्य था। होमरूल लीग के समय पन्द्रह दिन में आन्दोलन करके मद्रास प्रेसीडेन्सी में रूपान्तर कर दिया। सरकार की जरा भी परवाह न करके फल ईश्वर के लिए छोड़ कर अपने मानव कर्त्तव्य का निष्काम पालन किया। सिखा दिया कि मरते समय तक अपने धर्म-प्रेम और देश-प्रेम को छोड़ना कायरता ही नहीं, पाप है।

जिस समय मिसेज एनीबीसेंट सरकार द्वारा नजरबन्द की

गईं तो अय्यर जी को दुख हुआ और विचित्र जोश पैदा हुआ। मिस्टर हेचनर के हाथ एक पत्र अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन को भेजा जिसमे—कांग्रेस का जिक्र करते हुए उसे भारत की मुख्य संस्था बतलाया जिस पर भारत के तीस करोड़ जनता से अधिक का विश्वास है। और जिसका बृटिश की छत्र छाया में स्वराज्य प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य है। इसके पश्चात् भारतवर्ष ने युद्ध में बृटेन को किस प्रकार सहायता की और उन्हीं लोगों ने भारतीय सेनाओ की कैसी २ प्रशसा की इसका कुछ दिग्दर्शन कराया और अन्त मे भारत की बृटेन के प्रति निराशा का दृश्य खीचते हुए बृटिश शासन की खराबी और जुल्मो का ज़िक्र करते हुए लिखा था—"प्रतिष्ठित महोदय, हिन्दुस्तान का ज़खमी हृदय आपकी ओर देख कर उसासें भर रहा है क्योंकि हमें विश्वास है कि संसार की स्वाधीनता के पुनः संगठन में आप ईश्वर के साधन हैं"। इस पत्र से अमेरिका में ही नहीं योरोप भर में वड़ी हलचल मच गई। विल्सन ने अपनी राष्ट्रसभा के ५३३ मेम्बरों के पास यह पत्र भेजा। अमेरिका के १५०० समाचार पत्रों मे यह पत्र छापा गया और दो करोड़ से अधिक पाठकों ने इसे पढ़ा। साथ ही अमेरिका के वड़े २ नेताओ ने भारत के स्वराज्य के प्रति अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रगट की। जैसा कि लिखा जा चुका है—सुब्रह्मण्य अय्यर के पत्र ने अमेरिका मे ही नही बृटिश शासक-वर्ग मे भी खूब हलचल मचा दी। उस पत्र का दोष भिन्न २ मति के अनुसार भिन्न २ व्यक्तियों पर रक्खा गया और भिन्न २ परिणाम सोचे व निश्चित किए गए। किसी ने उस पत्र-वाहक मि० हेचनर को दोषी बतलाया। किसी ने सर अय्यर पर भांति २ के अनुमान करके उन्हे दोषी बनाया। किसी ने बतलाया कि मि० एनी बीसेंट

को नजरबन्दी से छुड़ाने ही के लिए यह पत्र लिखा गया। किसी ने मि० बोसेंट पर फवतियाँ कसीं तो किसी ने पत्र का परिणाम भारत के लिए अहितकर बतलाया। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि इस पत्र की खासी चर्चा हुई, जोरों की चर्चा हुई। इतनी चर्चा हुई जितनी का सर अय्यर को स्वप्न में भी ख्याल न था। यह बात दूसरी है कि पत्र की बातें उलटी समझी जावें और पत्र का कोई २ अंश दूसरे ही अर्थों में प्रयुक्त किया जावे, परन्तु यह निश्चित है कि उक्त पत्र का प्रभाव भारत के लिए हितकर ही पड़ा, अहित कर नहीं।

सर अय्यर पर क्या प्रभाव पड़ा, सो भी सुनिए—मि० माटेंगु के साथ जब लार्ड चेम्सफोर्ड भारतवर्ष के मद्रास प्रेसीडेन्सी मे पहुँचे तो सर सुब्रह्मण्य अय्यर भी उनसे भेंट करने गए। जैसे ही सर अय्यर ने कमरे में पैर रक्खा, लार्ड चेम्सफोर्ड के मिजाज तन गए। सर सुब्रह्मण्य इधर कई दिनों से शारीरिक कष्ट में थे फिर चार २ संस्थाओं के मेमारेंडम, जो भारत मंत्री को दिए गए थे ठीक ठाक करने में लगे रहने के कारण और भी अधिक कमज़ोर हो गए थे।

आप सोचिए एक आंखो से कमज़ोर फिर बीमारी से उठे हुए वृद्ध आदमी के लिए यह सब कठिन परिश्रम करना कितना कठिन और साहस का काम है। कुरसी पर बैठते ही चेम्सफोर्ड अय्यर से बड़ी तेज़ी के साथ बात चीत करने लगे। इधर सर सुब्रह्मण्य अय्यर को भी कम गरमी नहीं आई। उनका तो कहना था कि—"यह एक तूफ़ानी बातचीत थी। दोनों व्यक्ति खूब जोर शोर से बातचीत करने लगे। चेम्सफोर्ड ने छूटते मुंह यही कहा—"सर सुब्रह्मण्य, तुम वर्षों से हाई कोर्ट के जज रह चुके हो भला क्या यह भी नहीं समझते कि इस प्रकार का पत्र लिखना

क्या विद्रोह नहीं है ?" सर सुब्रह्मण्य ने उसी तेजी के साथ फौरन उत्तर दिया—"नहीं, मैं तो नहीं समझता कि ऐसा करना विद्रोह है, मैं तो समझता हूँ वह उचित है"। इस बात चीत के बाद परस्पर दोनों की गर्मी बढ़ती ही चली गई। जितनी तेज़ी से चेम्सफोर्ड बोले, उससे कम तेज़ी से सर सुब्रह्मण्य अय्यर नहीं बोले। उन्होंने समझा दिया कि मैंने जो कुछ किया है वह बिलकुल न्याय-युक्त है। अन्त मे चलते समय चेम्सफोर्ड ने 'विद्रोह' शब्द के प्रयोग के लिए उनसे खेद प्रगट किया और अपना वह शब्द वापस ले लिया।

सचमुच सर सुब्रह्मण्य अय्यर का चरित्र, आदर्श चरित्र है और ऐसा चरित्र है जो प्रत्येक व्यक्ति को देश सेवा और समाज सेवा के लिए प्रेरित करता है, आगे बढ़ाता है। उनके चरित्र से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कितनी निर्भीकता थी। उनके समय मे वही एक व्यक्ति थे जो सरकारी नौकर रह चुकने पर भी सत्य की हत्या करना जानते ही न थे।

कर्त्तव्य-परायणता के भावो से पूर्ण, शुभेच्छुगुणयुक्त, नम्र स्वभाव तथा विवेचक स्वभाव के मि० अय्यर ने जिस २ पद पर काम किया सदा विश्वासपात्रता और योग्यता के गुणों से विजय प्राप्त की; साथ ही हृदय और मस्तिष्क से प्रजा और सरकार दोनों की हमेशा भलाई ही सोची।

उनसे हमें एक दिव्य शिक्षा यह मिलती है कि ऐसे बहुत कम वृद्ध पुरुष होते हैं जो नवयुवको के साथ उनके ही समान मुस्तैदी से बढ़ सकें। ख़ासकर ऐसे पुरुष नवयुवकों के साथ बढ़ने में अपमान ही नहीं समझते बल्कि बुरा समझते हैं। यदि साथ भी देना चाहते हैं तो नेता बनकर। सर सुब्रह्मण्य अय्यर कभी अपने को नेता नहीं समझते थे। वह अपने को उन सेवकों

मे समझते थे जो सदैव यथोचित सेवाओ के लिए प्रस्तुत रहा करते हैं।

सर अय्यर के अन्तिम जीवन का प्रकाश कितना जाज्वल्य-मान है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। अन्तिम समय तक की कृतियाँ ही उनके कार्य की साक्षी हैं।

दूर के ढोल सुहावने होते है। जो पास आकर काम करते हैं वही सच्चे वीर हैं। सर अय्यर सच्चे वीर थे। कर्त्तव्य-निष्ठ थे, त्यागी थे, निर्भीक थे, और देश प्रेम की जीती जागती मूर्ति थे। अभी बहुत दिन नहीं बीते, दो-ढाई बरस हुए जब दीर्घ आयु भोगकर हमारे चरित-नायक इस संसार से विदा हुए।

१३--श्री स्वामी श्रद्धानन्द

मय समय पर भगवान की विशिष्ट विभूति के साथ कुछ ऐसी आत्माएँ इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ करती हैं जिनके जन्म ग्रहण का कारण दूसरों का उपकार करना, दूसरों को दुःख से छुड़ाना, और सत्योपदेश मे ही अपना सर्वस्व ही नहीं, प्राण तक न्यौछावर कर देना होता है। धर्म पर बलिदान होने वाले साधु श्रद्धानन्द ऐसे ही महापुरुषो मे से एक थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का जन्म सन् १८५६ ई० में ज़िला जालन्धर के समीप तलवन नामक एक ग्राम मे प्रतितिष्ठ खत्री-कुल मे हुआ था। पिता का नाम था ला० नानकचन्द्र जी। ला० नानकचन्द्र जी उस समय पुलिस में इन्स्पेक्टर थे। इस कारण एक जगह न रह पाते थे, इधर उधर तबादला होता रहता था। इसी से स्वामी श्रद्धानन्द भी जिनका पहला नाम मुंशीराम था जमकर एक जगह न रह सके। उनकी शिक्षा दीक्षा काशी बरेली आदि युक्तप्रान्त के भिन्न २ शहरों मे हुई।

बालक मुंशीराम की बुद्धि प्रारम्भ से ही बहुत तीव्र थी। उनके दो और बड़े भाई थे। मौलवी साहब के पढ़ाए पाठ को वे बहुत रटते फिर भी ठीक २ न सुना पाते थे। परन्तु मुंशीराम खेलते-कूदते रहने पर भी तीन चार बार सुनकर ही उसे सुना देते थे। फ़ारसी के हरूफ़ लिखना उन्हें किसी मौलवी ने नहीं बतलाया था। वे स्वतः ही किताब से देख देख कर लिखने लगे

थे। उनके पिता जी पक्के भक्त थे। नियम से पूजा किया करते थे। पूजा के कितने ही मंत्र व श्लोक मुंशीराम ने सुन २ कर याद कर लिए थे। इस प्रकार विना पढ़ाए ही उन्होंने बहुत कुछ पढ़ लिया।

दश वर्ष की आयु मे बालक मुंशीराम का यज्ञोपवीत हुआ और वे पढ़ने के लिए पाठशाला मे बैठाए गए। बुद्धि तो तीव्र थी ही जो पाठ पढ़ाया जाता उसे फौरन याद करके सुना देते थे जिससे अध्यापक लोग उनसे सदैव बहुत प्रसन्न रहा करते थे। मुंशीराम की शिक्षा एक जगह नही हुई, दो तीन वर्ष से ज्यादा कहीं नहीं रहे और इसी प्रकार एफ० ए० तक पढ़े।

मुंशीराम जो जिस प्रकार पढ़ने मे तीव्र थे उसी प्रकार खिलाड़ी भी अव्वल दर्जे के थे। शरीर भी परमात्मा ने अच्छा दिया था फिर पुलिस इन्स्पेक्टर के लड़के, हुकूमत की रोब दाब, खोल कर खर्चे की आजादी, कई बातें एक साथ ऐसी थी जिससे मुंशी राम प्रत्येक बात मे एकसा रहते थे। उनका कहना है कि मैं जहाँ जहाँ जाता था प्रायः वहीं वैसा ठाट-बाट बना लेता था और वैसी ही बोली सीख लेता था। बलिया मे मैं हुकूमत के झकोरों से मस्त होकर सिंह-सरदारो की पोशाक पहिनने लग गया। शान्दार लबादा, बांकपन का तिर्छा दुपट्टा, चुस्त चूड़ीदार पैजामा, चमकते हुए सल्मे-सितारों से जड़ा हुआ जूता और छड़ी ये मेरे ठाट थे। भोजपुरी बोली बोलने लगा था। बनारस में ये सब ठाट बदल गए। वहाँ मैं बनारसिया बनगया। इसी तरह खेलते-कूदते किसी प्रकार एफ० ए० तक पढ़ाई समाप्त की।"

ला० नानक चन्द्र जो उस समय बरेली में कोतवाल थे। उन्होने यह देख कर कि मुंशीराम को पुलिस की नौकरी से अरुचि है कमिश्नर से मिलकर तहसीलदारी दिलवा दी। मुंशीराम

जी पहले पहल बरेली में ही नायब-तहसीलदार की एवजी पर नियुक्त किए गए एक महीने बाद तहसीलदार भी छुट्टी पर गए और उन्हे स्थानापन्न नियुक्त किया गया। महीने डेढ़ महीने के कार्य से ही मुंशीराम जी को कलेक्टर और ज्वाइएट मजिस्टेट का बर्ताव अपमान-सूचक ज्ञात होने लगा। एक दिन उसी तहसील के एक पड़ाव पर गोरों की फौज आकर टिकी। मुंशीराम जी को रसद का प्रबन्ध करना पड़ा। गोरों ने बिना दाम दिए अंडेवालों के अंडे लिए। मुंशीराम जी ने कर्नल से शिकायत की कि इस प्रकार लूटमार करना ठीक नही। दूकानदार भाग जायंगे। दूकानदारो के दाम दिलवा दीजिए। कर्नल साहब उलटे बिगड़ने लगे और बोले "तुम गुस्ताखी करता है। क्या करेगा" कह कर ज़रा आगे बढ़े। मुंशी राम जी के हाथ में हन्टर था कर्नल को आगे बढ़ता देख उसे सम्हाला। कर्नल ठिठक गया। वैसे ही वे घोड़े पर चढ़ कर भाग आए और सब को आज्ञा दे आए कि चले आओ। आते ही तहसीलदार से रिपोर्ट की। कलेक्टर को लिख कर देने गए तो वहाँ कर्नल साहब मौजूद थे। कलेक्टर ने देखते ही क्रोधित होकर कहा—तुमने कर्नल की हतक क्यो की ? तुम्हे अपने कर्त्तव्य न पालन करने का दण्ड मिलेगा। मुन्शीराम जी ने रिपोर्ट बढ़ाते हुए निर्भीकता-पूर्वक कहा—पहले इसे पढ़ लीजिए फिर न्याय कीजिए। कलेक्टर ने उन्हे समझाने की चेष्टा की कि वे कर्नल से माफी माँग लें। पर उनका चित्त तो जल रहा था, सलाम करके निकल पड़े, और कमिश्नर साहब के यहाँ पहुँच कर उन्हे सब हाल सुनाया। कमिश्नर साहब ने कहा | "हम आपका तबादला दूसरी तहसील को कर दें, आप शान्त हो जावें" मुन्शीराम जी ने कहा—"बस मैं सरकारी नौकरी से भर पाया मुझे अब इससे सदा के लिए

मुक्त कर दीजिए।" अन्त को कमिश्नर की इच्छा से १५ दिन और कार्य करके सदा के लिए मुन्शीराम जी ने दासता से छुटकारा पा लिया। फिर नौकरी नहीं की।

अब मुन्शीराम जी यह सोच रहे थे कि मैं आगे क्या करूँ? इधर इनके पिता भी यह सोच रहे थे कि इससे नौकरी होगी नहीं। ठीक तो यह होगा कि पेन्शन लेने पर मैं उसे वकील बना कर अपने साथ रक्खूँ। पिता जी ने अवसर पाकर म० मुन्शीराम जी के आगे अपना प्रस्ताव रक्खा। वे तो यह चाहते ही थे, फौरन स्वीकार कर लिया। और ग्राम (तलवन) पहुँच कर जमींदारी का कुल काम सँभाल लिया। साथ ही कानूनी परीक्षा की भी तयारी करने लगे। इस समय उनका विश्वास मूर्ति-पूजा आदि से इतना हट गया था कि ईश्वर के अस्तित्त्व तक पर विश्वास न रहा था। पिता जी नास्तिक कहते थे।

उच्च विचारों के साथ २ उनमें एक ज़बर्दस्त दुर्गुण भी मौजूद था। पक्के शराब-सेवी और मांस-भक्षी थे। दो २ बोतलें ढाल जाते थे। कई बार इसका भयङ्कर दुष्परिणाम देख चुकने पर भी यह लत न छूटती थी। एक बार तो दाम चुकाने के लिए अपनी प्रिय पत्नी का ज़ेवर बेंच देना पड़ा। कुछ दिन को आदत छूटी पर संसर्ग ने फिर वही पूर्व रूप धारण कर लिया। ख़ैर किसी प्रकार मुख़्तारी और वकालत परीक्षा पास करके बाबू मुन्शीराम जी वकालत करने लगे। वकालत पास होने के पूर्व ही उनका आर्य्य-समाज से अनुराग हो गया। सत्यार्थ प्रकाश आदि पढ़ कर वे आर्य्य-समाजी और समाज के सदस्य बन गए। साथ ही दो एक घटनाएँ ऐसी घटीं जिससे मद्य मांस का भी सदैव के लिए दूरीकरण हो गया। मुंशीराम जी अब एक नए किन्तु पवित्र जीवन के पुरुष बन गए। मुंशीराम जी ने जालन्धर

में वकालत प्रारम्भ की और वहाँ आर्यसमाज के प्रधान बनकर वैदिक धर्म प्रचार मे भाग लिया। कर्मण्य और योग्य होने के कारण वे पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान बना दिए गए। इसी समय उन्होंने "सद्धर्म प्रचारक" नामक उर्दू अख़बार निकाला। जिसे फिर 'हिंदी ही राष्ट्र भाषा है' विचार कर हिंदी कर दिया। यह मुंशीराम जी के ही परिश्रम का फल है कि उर्दू प्रधान पंजाब में आज हिन्दी भाषा का यह स्वरूप देख पड़ता है।

देश की वर्त्तमान नाशक शिक्षा प्रणाली को देखते हुए उन्हों ने सोचा कि अपना वेश, भाषा और शिक्षा के बिना देश व जाति की उन्नति होनी संभव नहीं। इसके लिए तो पुरानी आदर्श शिक्षा प्रणाली चाहिए जो अपने रंग ढंग में स्वतंत्र हो। इस प्रकार निश्चय करते ही मुंशीराम जी ने वकालत छोड़ दी और रुपया एकत्र करने के लिए बाहर निकल पड़े। ३० सहस्र रुपया एकत्र कर कुछ ही महीनो मे सन् १९०१ मे हरिद्वार के निकट कांगड़ी ग्राम के पास गुरुकुल का उद्घाटन किया जो आज सारे संसार में प्रसिद्ध है। उनके निःस्वार्थ भाव और अपूर्व त्याग ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का अनुयायी बना लिया। इस समय उसी के फलस्वरूप देश मे कितने ही गुरुकुल देख पड़ते हैं।

जिस समय मुंशीराम जी ने गुरुकुल खोल कर उसमें तपोमय जीवन की शिक्षा देने का आयोजन किया तो लोग उनकी मखौल उड़ाने लगे और 'महात्मा महात्मा' कह कर उन्हें चिढ़ाने लगे-लेकिन ध्येय के पक्के दृढ़ निश्चयी मुंशीराम जी मखौलों से कब घबड़ाने वाले थे। अंत में मुंशीराम जी सत्य ही महात्मा मुंशी राम हो गए। जब गुरुकुल रूपी विटप फूल फल निकला तो वे संन्यास ग्रहण कर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप मे प्रगट हुए।

स्वामी श्रद्धानन्द का राजनैतिक जीवन तो गुरुकुल स्थापना से ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होंने पूरा भाग लिया और इतने सर्व प्रिय हो गए कि अमृतसर कांग्रेस ने उन्हें अपनी स्वागत कारिणी समिति का प्रधान चुना।

पंजाब के मार्शल ला की घटनाएँ, ज़लियान वाले बाग़ के शहीदों के स्मारक की स्थापना, क़त्ले आम से बच रहने वाली विधवाओं और अनाथो की सहायता, देहली के मार्शल ला के दिनों मे मशीन गनों के सामने छाती अड़ा कर हिन्दू, मुसलमानों की रक्षा करना आदि घटनाएँ उनकी देश-सेवा की अच्छी परिचायक हैं जिनकी मिसाल दूसरे व्यक्ति में कम मिलती है। मुसलमानो की ख़ास जामा मसजिद मे व्याख्यान देने का गौरव स्वामी श्रद्धानन्द को ही प्राप्त था।

अकाली सिक्खो के गुरुद्वारा आन्दोलन मे स्वामी जी छै मास के लिए जेल गए। ख़िलाफत आन्दोलन मे पूरा भाग लिया। अन्त में हिन्दू जाति की प्रतिदिन की क्षीणता देख कर उन्हे मर्मान्तक पीड़ा हुई। उन्हों ने शुद्धि आन्दोलन उठाया जिस में अपने बिछुड़े हुए भाइयो को फिर से गले लगाना सिखाया। कोहाट, मुलतान, आगरा, सहारनपुर आदि की भीषण घटनाओं से द्रवीभूत होकर उन्होंने हिन्दू-संगठन का बीड़ा उठाया और उसी सेवा मे अपने प्राणों का उत्सर्ग करते हुए देश को देश-सेवा और जाति-सेवा का उज्ज्वल पाठ पढ़ाया।

मुसलमान उनके हिन्दू-संगठन से इतने चिढ़ गए कि उन्हे मारने का निश्चय कर लिया। २३ दिसम्बर १९२६ ई० को अब्दुल रशीद नामक एक हत्यारे मुसलमान ने बीमारी की दशा में पड़े हुए वृद्ध और निर्बल स्वामी पर एकान्त मे रिवाल्वर

निकाल कर गोली चला दी। स्वामी जी ने मरने से पूर्व एक पत्र मे लिखा था—"मैं फिर भारत में जन्म लेकर शुद्धि-द्वारा देश और जाति को सेवा करूँगा।"

स्वामी जी के जीवन सम्बन्धी अनेक ऐसी घटनाएँ हैं जिनसे पता चलता है कि मनुष्य के जीवन में किस भाँति परिवर्त्तन होने से उसका जीवन सुधर जाया करता है।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि स्वामी जी को प्रारम्भिक जीवन में मद्य-मांस के सेवन का बुरा व्यसन था। स्वामी जी स्वतः कहते हैं—"एक दिन एक बड़े वकील के यहां निमंत्रण था। खूब शराबें उड़ी। मैंने भी कोई कसर न रक्खी। मेरा एक मित्र तो लड़खड़ाने लगा। घर पहुँचाना उचित समझ कर मैंने उसे कमर में हाथ डाल कर घर पहुँचाया। और ठहरे हुए मित्र के अपने डेरे पर लौट आया तो देखा वह बोतल खोले बैठे थे। आधी २ बोतल चढ़ाई गई। मित्र महोदय शराब पीकर पास के एक कमरे में घुस गए। मै दूसरा प्याला पीने ही को था कि कमरे से चीख़ की आवाज़ आई। मैं किवाड़ा ढकेल कर भीतर पहुँचा तो देखता हूं कि एक युवा देवी मेरे राक्षस मित्र के हाथों छटपटा रही है। यदि मैं दो मिनट और न पहुँचता तो न मालूम उसका क्या हाल होता। मैं ने झपट कर उस नराधम को ढकेल दिया। देवी काँपती हुई अन्दर भाग गई। मैं शराब के कुपरिणाम खड़ा २ सोचने लगा। मद्य से पूरा वैराग्य उत्पन्न हो गया। पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि बाक़ी रक्खी हुई समाप्त करके सदा के लिये उससे छुटकारा लूँ। बस पूरा बड़ा गिलास चढ़ा गया। आखें बन्द थी, मालूम हुआ मानो कोई विशाल मूर्ति शरीर मे विभूति रमाए, मोटा सोंटा लिए सामने आ खड़ी हुई। महात्मा ने कहा—"क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न

होगा ?" आँख मल कर खोलीं, सामने देखा, कोई न था। हृदय काँप उठा। मेरे कमरे के दूसरी ओर किसी दूसरे घर की दीवार थी। गिलास उठा कर जो फेंका तो दीवाल से लगकर चूर २ हो गया। बोतल भी टकरा कर टुकड़े २ हो गई। मैंने उठकर हाथ मुंह धोया और समझ लिया कि आज से मेरा नया जन्म हुआ। उस दिन से शराब स्पर्श तक न की।"

स्वामी जी लिखते हैं कि—"एक बार नित्य की भाँति जब मैं घूमने गया तो एक मनुष्य के सिर पर मांस का टोकरा दिखलाई दिया। टोकरा उठाने वाला बोझ के दबाव से बचने के लिए भागा जाता था और टोकरे मे भेड़ बकरियों की खाल उधड़ी हुई, बाहर लटकती हुई टांगे एक भयानक घृणित दृश्य उपस्थित कर रही थीं। न जाने क्यो उस दिन इस दृश्य से मेरा दिल दहल गया। मैं बाल्यावस्था से मांसाहारी था। फिर इस आकस्मिक करुणारस का मतलब मेरी समझ में न आया। उस टोकरे की ओर मेरी टकटकी बँध गई और तभी दूर हुई जब टोकरा आँखों से ओझल हो गया। घर आने पर भोजन के समय जब आसन पर भोजन का थाल आया तो उसमे अन्य भोज्य पदार्थों के साथ मांस का कटोरा भी था। उसे देख कर मुझे ऐसी घृणा हुई कि काँसे के कटोरे को उठा कर दीवाल पर दे मारा; वह टूक २ हो गया। मेरे साथी घबराये कि क्या हुआ। मैंने कहा "मै माँस का अपनी थाली मे रक्खा जाना सह नहीं सकता।" उसी दिन से मुझे सदैव के लिए मांस से छुटकारा मिल गया।

स्वामी जी के यह संकल्प कर लेने पर कि "मै अब सरकारी नौकरी न करूँगा" स्वामी जी के पिता के एक अंगरेज मित्र ने, जो पुलिस इन्स्पेक्टर जनरल थे, पिता जी के सहित स्वामी जी को बुलाया (स्वामीजी पर वे प्रसन्न पहले से ही थे) और कहा—

"मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हे मांग लिया है। तुम्हें १५०) से ३५०) तक के ग्रेड में ले लूंगा और चार वर्ष में डिप्टी कलक्टर बनवा दूँगा। तुम मेरे साथ चलो" स्वामी जी ने पिता जो के संकोच से कुछ हामी तो कर दी, पर इस उधेड़ बुन में लग गए कि किस प्रकार इस बन्धन से छुटकारा पाऊँ। उन्होंने सरकारी उच्च पद की जरा भी आकांक्षा न की। और नौकरी पर नहीं गए।

स्वामी जी में अपूर्व आत्मबल था। उसके लिए वे सब को त्यागने के लिए तैयार रहते थे। जिस बात को सत्य मान कर ग्रहण कर लेते फिर उससे हटना तो जानते ही न थे। एक बार विद्यार्थी दशा मे जब वे पिता से आज्ञा लेकर लाहौर जाने लगे तो पिता ने उनके आर्य-समाजी भावों का विचार जान कर पूजा की सामग्री मंगा कर सामने मंदिर की ओर इशारा करते हुए कहा—"जाओ पुत्र ठाकुर जी को मत्था टेक कर विदा मांग लो। भगवान रामचन्द्र और हनूमान तुम्हारी रक्षा करें" स्वामीजी बड़े असमंजस मे पड़ गए। फिर कुछ रुक कर दृढ़ता पूर्वक बोले—"मै अपने माने हुए सिद्धान्तो के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूं। हाँ सांसारिक व्यवहारों में आप जो आज्ञा दें, मैं पालने को सर्वदा तयार हूं।" पिता जी ने क्रोध से कहा, "क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु पत्थर समझते हो?" स्वामी जी ने कहा—"हाँ, मैं परमात्मा के नीचे आपको ही समझता हूं, क्या आप चाहते हैं कि आप की सन्तान मक्कार हो?" पिता जी ने कहा—"अपनी सन्तान को मक्कार कौन चाहता है?" स्वामी जी ने कहा—"तब इन मूर्तियों के आगे झूठ-मूठ सिर झुकाना मेरे लिए मकारी होगी"। पिता जी ने मन के भाव मन मे ही दबा-कर कहा—"अच्छा जाओ"। स्वामी जी पिता जी को प्रणाम कर चल दिए।

स्वामी जी के उच्च और सत्य विचारों को बड़े से बड़े प्रलोभन न दबा सकते थे। जब स्वामी जी ने गुरुकुल खोला तो सरकार को सन्देह हुआ कि यह एक ऐसी संस्था है जहाँ के लड़के राज-नैतिक होंगे। अस्तु उनके कार्य में हस्तक्षेप और सहयोग करने के लिए स्वामी जी को एक लाख रुपया और वार्षिक सहायता देना चाहा। परन्तु निर्लोभ स्वामी जी ने उसे लेने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और बोले "मुझे ऐसे धन से धिक्कार है जो हमारी स्वतंत्रता और उच्च उद्देश्यों का बाधक हो।"

लाला लाजपतराय जी ने लिखा है—"स्वामी श्रद्धानन्द ने आजीवन अपने देश, धर्म और जाति की सेवा की। जब कभी नवीन भारत का इतिहास लिखा जायगा तो उसमे स्वामी जी का पद बहुत ऊँचा रक्खा जायगा। स्वामी जी वस्तुतः अपने देश और जाति के लिए ही जीते थे। भावी सन्तान उनकी पूजा किया करेगी।"

१४--पंजाब केसरी लाला लाजपत राय

ला लाजपतराय देश के उन इने-गिने नेताओं में से एक थे, जिन के लिये भारत गौरव कर सकता है। उत्तरीय भारत के नवयुवकों में जो देश-भक्ति की लहर दिखाई देती है वह लाला जी के ही उद्योग का फल है।

लाला लाजपतराय का जन्म सन् १८६५ ई० में लुधियाना ज़िले के जगराँव नामक छोटे से गाँव में हुआ था। वे अग्रवाल वैश्य थे और उनके पिता लाला राधाकृष्ण जी सरकारी स्कूल में उर्दू के शिक्षक थे। सन् १९७७ ई० मे उन पर स्वामी दयानन्द की शिक्षा का प्रभाव पड़ा और वे आर्य-समाज के साथ-साथ कांग्रेस की ओर भी झुकने लगे। लाला जी की माता बड़ी विदुषी और अनुभवी महिला थीं एवं उन्ही से लालाजी ने बचपन में ही बहुत-सी बातें सीखी थी।

लालाजी का स्वास्थ्य बचपन से ही ठीक न था और साथ-ही साथ उन्हे आर्थिक सुभीते भी न थे। तब भी पढ़ने में वे अपने साथियों में सब से प्रथम रहते थे। स्कूल की प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके वे कालेज मे दाख़िल हुए और उन्हे सरकारी छात्र-वृत्ति मिलने लगी। दो वर्ष तक कालेज में पढ़ कर १८ वर्ष की अवस्था से पहले ही हिसार में वकालत शुरू कर दी।

उन्हीं दिनों प्रसिद्ध समाज-सुधारक तथा आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द जी पञ्जाब में पहुंचे। स्वामी जी के

व्याख्यान और खण्डन-मण्डन की युक्तियों का उन पर खासा प्रभाव पड़ा और तभी से लालाजी सार्वजनिक क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। लालाजी अपने साथी स्वर्गीय पं० गुरुदत्त और महात्मा हंसराजजी के साथ समाज-सुधार के कार्य मे लग गये। लालाजी यद्यपि आर्य-समाजी थे, परन्तु उनके लिये किसी मत या धर्म से विरोध न था—वे समस्त भारतवासियों को प्रेम की दृष्टि से देखते थे और सब के दुःख में हाथ बँटाते थे।

वकील हो जाने के बाद उन्होंने अपने पेशे मे आशातीत सफलता प्राप्त की और तीन वर्ष मे ही हिसार के वकीलो के सर्वमान्य नेता बन गये। सन् १८९२ ई० मे लाहौर आ गये और वहाँ के चीफ-कोर्ट मे वकालत करने लगे।

लालाजी सदैव जो शिक्षा-प्रेमी रहे हैं। लाहौर का डी० ए० वी० कालेज उनके ही परिश्रम का फल है। उन्होने बारह वर्ष तक उसके अवैतनिक सैक्रेटरी रह कर उसकी वह उन्नति की, कि आज उसके मुकाबले का कोई दूसरा कालेज भारत भर में नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् आप डी० ए० वी० कालेज के अतिरिक्त अन्य शिक्षा-संस्थाओ को भी बराबर सहायता और सहयोग दिया करते थे। भारत की शिक्षा-पद्धति को उपयोगी और सर्वोच्च बनाने के उद्देश्य से वे अमेरिका गये। वहां जाकर आपने कई शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण किया और वहां की बहुत सी उपयोगी बातें नोट की।

शिक्षा के सिवाय लालाजी का ध्यान देश की आर्थिक स्थिति तथा दीन-अनाथ परिवारों की ओर विशेष रूप से रहता था। आप अनाथ-बन्धु थे। वे जितना धन वकालत से कमाते थे, उस से वे बड़ी शान-शौकत से अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे, परन्तु विलासता तो उन्हे छू भी नहीं गयी थी। अपने काम-

काज से जो समय बचता, उसे वे परोपकार में ही बिताते थे। लालाजी ने फीरोज़पुर अनाथालय को स्थापित करके हिन्दू-समाज का बड़ा भारी उपकार किया। लालाजी उर्दू में मेज़िनी, गेरीवाल्डी; शिवाजी, स्वामी दयानन्द, और भगवान् श्री कृष्ण के जीवन चरित्र लिख कर भारतीय और विशेष कर पञ्जाब के नवयुवकों मे देश-भक्ति का चिरस्थायी स्रोत बहाया है और कई पत्रों का सम्पादन करके देश की बड़ी भारी सेवा की है।

लालाजी को सच्चा स्वदेश-भक्त जान १९०५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की कमेटी ने उन्हें विलायत जा ब्रिटिश-जनता को भारत के राजनीतिक कष्टों का ज्ञान कराने का काम सौंपा। इसके लिये पञ्जाब के इण्डियन एसोशियेशन् ने ३०००) स्वीकार किये, पर उन्होंने उसमे से एक पाई भी न ली। सब धन विद्यार्थियों के लाभ के कामों में लगाने को दे दिया और अपने पास के ख़र्च से विलायत गये। वहाँ पहुँच, उन्होने बड़ी योग्यता से ब्रिटिश-जनता को दीन भारतवासियों की विपत्ति-कहानी सुनायी और घूम घूमकर वहाँ वालों को भारतवासियों के दुःखों का ब्योरा सुनाया। वहां आपके प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा।

लालाजी के प्रति कृतज्ञता के जो भाव सर्व-साधारण के हृदय क्षेत्र मे घर कर गये थे, उनके कारण चारों ओर जनता ने उनका जैसा स्वागत किया, वह बड़े-बड़े चक्रवर्तिओं को भी नसीब न होगा। इस कथन की सत्यता, उन्हीं को यथावत् जँच सकती है जिन्होने वह समय देखा है। जब देश-निकाले से छुटकारा पाने पर लालाजी किसी नगर में गये तो उनके लाख हाथ जोड़ने पर भी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उनकी एक न सुन, उनकी गाड़ी के घोड़े खोल स्वयं गाड़ी खींची थी।

लालाजी के छूटने के समय कांग्रेस के कार्य-कर्त्ताओं मे दो

दल हो गये थे। एक एकस्ट्रीमिस्ट अथवा गरम-दल के नाम से पुकारा जाता था। परन्तु वास्तव में लालाजी के शब्दों में उनमे गरम नरम क कोई ऐसी बात नहीं थी, जिससे वे एक दूसरे के विरोधी बन, उसकी अनिष्ट चिन्तना को उद्यत होते। लालाजी ने एक विराट् सभा में कहा था कि सच पूछिये तो मैं नहीं समझता, कि ये शब्द जिन दलों के लिये व्यवहृत होते हैं, वे उनके सिद्धान्तों के वास्तविक द्योतक हैं या नहीं। पर मैं स्वयं तो ये नापसन्द नहीं करता हूँ पर यदि हमारे लिये हो न हो ये शब्द व्यवहृत ही होते हैं तो मैं अपने नरम दल वाले भाइयों से प्रार्थना करता हूं, कि विरोधियों के हाथ के खिलौने न बने .... सम्भव है, कि गरम-दलवालों के कार्य के कुछ ढंग उन्हे पसन्द न हो; पर एक को इसीलिए उन्हे दूसरों के हाथ सौंपना और उनकी निन्दा करना अथवा उन्हें गवर्नमेण्ट का कोप-भाजन बनाना और एंग्लो इण्डियनों द्वारा उनका उपहास कराना बुद्धिमानी की बात न होगी। ऐसा करने से आपस मैं जन्म-जन्मान्तर का विरोध पड़ जायेगा और हम लोग विवादों और कठिनाइयों में फँस जायेंगे, जिनसे राष्ट्रीय कार्यों के लिये हमें जो अवकाश मिलता है, वह इन्हीं झगड़ों में जायगा। साथ ही मैं अपने गरम दल वाले भाइयों से भी नम्रता-पूर्वक निवेदन करूंगा कि वयोवृद्धों की मन्दगति और उनके वास्तविक अनुभव से अधीर न हों।"

महायुद्ध के पूर्व लालाजी अमरीका गये और उस के अन्त होने पर भारत आये। ब्रिटिश-सरकार उन्हे भारत आने की आज्ञा नहीं देती थी; किन्तु कोशिश करने के बाद उन्हें आज्ञा मिल गयी। सन् १९२० ई० सितम्बर में वे कलकत्ते की विशेष कांग्रेस के सभापति हुए और उन्हीं की अध्यक्षता में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पास हुआ।

सन् १९२१ ई० के दिसम्वर में वे क्रिमनल ला एमेंडमेंट के अनुसार गिरफ्तार हुए, किन्तु थोड़े दिन वाद ही राजयक्ष्मा के रोग से पीड़ित होने के कारण छोड़ दिये गये।

लालाजी राष्ट्रवादी होते हुए भी हिन्दुओं के साथ होने वाले अत्याचारों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हिन्दू-संगठन में पूरा पूरा भाग लिया था। गत ३० अक्टूवर सन् १९२८ को वे साइमन-कमीशन का विरोध प्रकट करने वाले लाहौर के जलूस में सम्मिलित हुए थे और उसमें पुलिस ने उन पर डण्डे वरसाये, जिससे उन्हे गहरी चोट आयी। उसी चोट से उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता गया और १७ नवम्वर को सवेरे ७॥ वजे हृदय की गति रुक जाने से उनकी मृत्यु हो गयी !!

जव भविष्य मे भारत के भविष्य इतिहास के पन्ने उल्टे जांयगे तो लालाजी का नाम स्वर्णाक्षरो में प्रथम श्रेणी के महा-पुरुषो में लिखा मिलेगा। निस्सन्देह लालाजी भारत के गौरव और मातृ-भूमि के सच्चे पुजारी थे। जिन्हो ने ज़रा भी उन के दिव्य जीवन पर दृष्टि डाली है, जिन के हृदय पर किञ्चित भी उनकी दिव्य ज्योति का प्रकाश पहुँचा है वे शायद उन्हे तभी भुला सकेंगे जव उन का नश्वर शरीर सदा के लिए संसार से उठ जाय। उनका उभरा हुआ उन्नत ललाट, छोटा किन्तु गठीला शरीर, दीप्ति-मान मुखमंडल उन की महत्ता के परिचायक है।

अपनी छाती पर, थोड़े दिन हुए, डन्डे की चोट खा कर उन्होंने जिस सहन-शीलता और वीरता का परिचय दिया उस से न केवल लालाजी का गौरव वढ़ा वल्कि नौकरशाही के घृणित, अनुचित कृत्य का एक और नमूना पेश हुआ। यह चोट लालाजी को नहीं पहुँचाई गई। पहुँचाई गई भारत के उन करोड़ों हृदयों

को, जिन के हृदय मे लालाजी का स्थान है। लालाजी की अमूल्य सेवाओं से उन के प्रति जिन के नत-मस्तक हैं; नौकरशाही के इस दुष्कृत्य से वे दिल भी दहल जायँगे जिन में उस के प्रति किसी प्रकार का दिखावटी भाव या ऊपरी भक्ति है। पूज्य लाला जी ने अपने अपूर्व साहस का परिचय देते हुए हम को बतला दिया कि स्वतंत्रता-संग्राम के लिए वीर पुरुषों की भाँति अपनी जान को हथेली पर रख कर आगे आगे चलो। पशु-बल का दमन आत्म-बल से करो।

लाला जी ६३-६४ वर्ष की आयु के होकर मरे परन्तु उत्साह और क्रिया-शीलता मे वे मृत्यु समय तक किसी पच्चीस वर्ष के नव-युवक से कम नही थे। कोई नव युवक भले ही अपनी कर्त्तव्य-शीलता से जी चुरा जाय, परन्तु लालाजी उन पुरुषों मे थे जो कर्त्तव्य पथ मे बाधाओ को शुभ शकुन और कार्य-सफलता का कारण समझते थे। उन में त्याग की विलक्षण शक्ति थी। यदि चाहते तो वे वकालत द्वारा लाखों की संपति संचित कर लिए होते। पर नही, जो अपने को पर-दुख से दुखी और पर-सुख से सुखी मानने वाला है, जिस के हृदय में पराधीन देश के प्रति करुणा है, दया का भाव है वह ख़ुद ऐश्वर्य कब भोग सकता था। वह सुख की नींद कब सो सकता था। जीवन के प्रारम्भ काल ही से वकालत के साथ साथ लालाजी उसे लात मार कर सार्वजनिक सेवा में लग गये। और अपना जीवन सार्वजनिक सेवाओं को समर्पण कर दिया।

दीन दुखियों के लिए तो लालाजी के हृदय में अकथनीय दया थी। वे उन के दुखो को देख नहीं सकते, बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन के लिए वे अपना सर्वस्व समर्पण करने तक मे नहीं हिचकते थे। दुखियों की करुण-कहानी सुन कर उन के नेत्रों

से आंसुओं की धारा बह चलती थी। अछूतों को वे अपना चिर-संगी समझते थे। उन का हमेशा यह प्रयत्न रहता था कि अछूतों का सुधार हो, उन के प्रति वही व्यवहार किया जाय जिसे हम दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं। उन मे केवल वाक्शूरता न थी। वाकशूरता से कही अधिक कर्त्तव्य-शूरता थी। अछूतो और देश-हित कामों में उन्हों ने अपनी गाढ़ी कमाई का लाखों रुपया दे दिया। खुद भिखारी बने रहे। हिन्दू-मुसलिम दंगे के दर्दनाक क़िस्से सुन कर उनकी आंखों से आंसुओं की धारा निकल पड़ती थी।

हिन्दू और हिन्दुस्तान के लिए लालाजी में पक्की लगन थी। उस के लिए वे अपनी चित्त-वृत्ति के अनुसार कार्य करने, अपनी शक्तियों को बढ़ाने तथा देश-हितकारियों को सुदृढ़ व स्थायी करने करने मे सदैव प्रयत्नवान रहते थे। निष्क्रिय तो कभी होते ही न थे। मिस मेयो ने भारत वासियों को झूठा, पातकी और महा असभ्य सिद्ध करने के लिए 'मदर इंडिया' नाम की जो पुस्तक लिखी है लाला जी ने 'अनहेपी इंडिया' (दुखी भारत) लिख कर उस की लम्बी खबर ली, खूब धज्जियां उड़ाई हैं और अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह साबित किया है कि पराधीन देश को और भी ग़ुलामी की जंजीरों में जकड़ने के लिए कैसा धूर्त्ततापूर्ण आन्दोलन खड़ा किया गया है। पुस्तक ने न केवल भारत में बड़ा तहलका मचा दिया है चारों ओर सनसनी फैली हुई है। यूरोप मे बड़ २ अंगरेज़ यह कह रहे हैं कि मिस मेयो ने 'मदर इंडिया' लिख कर बड़ी भूल की और हिन्दुस्तानियों को योरोप की पोल खोलने का मौक़ा दिया। इस प्रकार की पुस्तक लिख कर लालाजी ही ने इस समय संसार के आगे भारत के गौरव की रक्षा की।

जिन्हों ने आकर्षण-शक्ति-संपन्न लाला जी की चमत्कारिक, युक्ति-पूर्ण वक्तृताएं सुनी हैं, वे उन की योग्यता, अद्भुत, विचार-शक्ति, गंभीरता, हार्दिक लगन, परिशीलन और प्रखर राज-नीतिज्ञता का सहज ही अनुमान और प्रमाण पा सकते हैं।

लाला जी निर्भीक, तेजस्वी एक सिंह-पुरुष थे। जिस समय उन्हें देश-निकाला हुआ, उन की निर्भीकता देखने लायक थी। इस पंजाब-केशरी से गवर्नमेंट को इतना भय था कि देश-निकाले के समय जब तक लाला जी लाहौर से बन्द और स्पेशल सवा-रियों से माण्डले नहीं भेज दिये गए किसी को पता नहीं लगने पाया। उन्हे कोई हिन्दुस्तानी देखने को नही मिला। आस पास पिस्तौल का पहरा था। लालाजी ने केवल एक सब-इन्सपेक्टर को दूर से इस लिए सलाम किया था कि देश से विदाई के समय एक भारत-पुत्र के दर्शन हो गए थे।

लाला जी का हृदय कितना विशाल था, कितने उच्च भाव थे, भारतीय जनता पर उन का कितना प्रभाव था, उन में कितनी अक्षुण्ण कार्य-शक्ति थी, इस का पता उस लेख से चलता है, जो उन के देश-निकाले के समय एक पत्र में प्रकाशित हुआ था। वह लिखता है "देश का रोना लाला लाजपत राय के लिए नहीं है; उन्हे पराधीन पंजाब से माण्डले की जेल लाख दर्जे अच्छी है। वहां उन के पीछे जासूस नही दौड़ेंगे; न कोई मजिस्ट्रेट वृक्षों और पर्वतो को उन के व्याख्यान सुनने से रोकेगा। जीवन-व्यापी स्वार्थ-त्याग के ऊपर यदि कोई कलश चढ़ सकता था तो यही जन्म भर की कमाई। डी० ए० वी० कालेज को देने वाले कांगड़ा के प्रचण्ड भूकम्प के समय सरकार से भी दो दिन पहले सहायता ले कर कष्टितो की रक्षा और मदद के लिए पहुँचने वाले परोपकारी जीव का यही अन्तिम दृश्य है। राजा शिवि ने कपोत

के लिए अपनी देह दी, राजा ऋतुपर्ण ने नाग के बदले गरुण को अपना मांस दिया, दधीचि ने इन्द्र को असुरों के विरुद्ध लड़ने के लिए अपनी हड्डियां दी। वीर माता पंजाब का वीर पुत्र, गरीबो का सहायक, राजनीतिक मुखिया इस से क्या उच्चतर गति पाता कि देश से सेवा के पाप में विदेश भेजा जाय। आज मद्रास के ब्राह्मण वैसे ही रोते हैं जैसे अपने बड़े भाई या मा बाप के वियोग मे न रोये होंगे। आज कट्टर सनातन-धर्मी भी आर्य-समाजी इस वैश्य जाति के रत्न के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करता है और 'अपि नः सकुले जायात्' कह कर अपने पुत्रों की ओर देखता है। आज जिन बच्चो के दूध के दाँत नहीं टूटे हैं वे भी उसके दुःख मे चिल्ला रहे हैं" इस से पता लगता है कि पूज्य लाला जी का असर न केवल युवा या वृद्ध पुरुषो पर ही पड़ता था। बल्कि बालकों, नहीं नहीं, पशु पक्षियो, 'वृक्षो और पर्वतो तक पड़ता था।

लाला जी के सिद्धान्त और मन्तव्य थे कि 'मेरा मजहब हक़-परस्ती (स्वत्व पूजा) है। मेरी मिल्लत-क़ौम-परस्ती है। मेरी इबादत खलक-परस्ती है। मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है। मेरी जायदाद मेरी क़लम है। मेरा मन्दिर मेरा दिल है। मेरी उमंगें सदा जवान हैं।"

प्रत्येक भारतीय को, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान, चाहे बौद्ध हो चाहे जैन, चाहे पारसी हो चाहे सिक्ख, चाहे ईसाई हो चाहे मुसाई, लाला जी के समान अपने विचार रखना चाहिए, और देश-सेवा में स्वाराज्य प्राप्ति के लिए विघ्न बाधाओं को तृणवत् समझते हुए लगा रहना चाहिए।

लाला जी की स्वाभाविक विनम्रता, मिलनसारी और उनकी सादगी भी प्रत्येक पुरुष पर अपना असर डाले बिना नहीं रह

सकती। जो पुरुष उनसे मिलता या ज़रा देर भी बातचीत करता था वह उनका हो जाता था। स्पष्ट वक्ता और निर्भीक होते हुए भी अभिमान तो उन में लेशमात्र को छू नही गया था। दिखावा को वे अपने पास नहीं फटकने देते थे। कई बार वे यूरोप गए पर वही वेश भूषा, वही सादगी, यही विनम्र स्वभाव। लाला जी ने व्याख्यानों द्वारा कार्य नहीं किया है। उनकी लिखी हुई पुस्तकें उनका सदैव यश गावेंगी। लाला जी का आदर्श-चरित्र और उनके कार्य प्रत्येक पुरुष के लिए न केवल हितकारी बल्कि जीवन-पद प्रदर्शक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आने वाली भविष्य सन्तानें गौरव के साथ उनकी यश गाथा भविष्य में लिखे जाने भारत के उज्ज्वल इतिहास में पढ़ा करेंगीं। और अपने हृदयों में उनकी आरती उतारेंगीं। संसार में दो प्रकार के पुरुष सूर्य-मंडल को भेदने वाले होते हैं। एक तो योगी परिवार दूसरा प्यारी मातृ-भूमि के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने वाला वीर निस्सन्देह इन दोनो में एक पंजाब-केशरो श्रद्धेय लाला लाजपत राय जी भी थे।

— —

१५—महात्मा श्री मोहन दास कर्मचन्द गांधी

सार के लिए आदर्श रखने का गौरव यदि किसी को प्राप्त है तो वह भारत जननी है। भारत जननी ने ही ऐसे २ पुत्रों को जन्म दिया है जिन्होंने संसार को दयालुता, उदारता, सज्जनता और विद्वत्ता का पाठ पढ़ाया है जिनकी महत्ता को अन्यान्य देश मान गए हैं और उनके सामने अपने को झुका दिया है। इस जीवनी में हम जिस महापुरुष का जीवन अंकित करना चाहते हैं वे महापुरुष हैं महात्मा मोहन दास कर्मचन्द गांधी। भारत के लोगों ने ही नहीं योरोप के बड़े २ पुरुषों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है और स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वर्त्तमान युग का सर्व-श्रेष्ट महापुरुष एक केवल गांधी है।" संसार के सर्व-श्रेष्ठ पुरुष के विषय में जो कुछ लिखा जाय बहुत थोड़ा है। हम यहाँ केवल उनके चरित्र का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं।

महात्मा गांधी का जन्म सन् १८६९ के अक्टूबर मास में बम्बई के पास पोर बन्दर नामक स्थान में हुआ था। आप के वंश में अपने नाम के साथ पिता का भी आधा नाम जोड़ने की रीति है। आप के पिता का नाम था कर्मचन्द गांधी। उसी के अनुसार आपका नाम रक्खा गया मोहन दास कर्मचन्द गांधी।

बचपन से ही गांधी जी पर उनके सुयोग्य पिता और धर्म-परायणा माता का बहुत असर पड़ा। गांधी जी के वर्त्तमान

जगमगाते हीरे
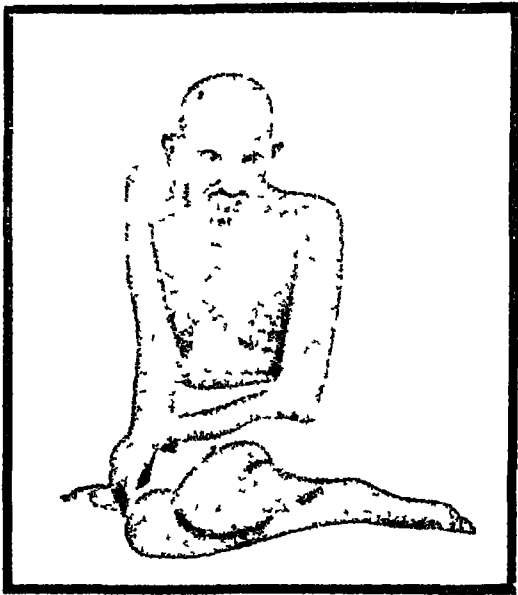
महात्मा गांधी

गुणों का बीजारोपण उनके माता-पिता द्वारा ही हुआ। सात वर्ष की अवस्था में बालक मोहनदास एक देहाती पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठाए गए। दश वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल में भर्ती हुए और सत्रह वर्ष की अवस्था मे मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। बारह वर्ष की अवस्था मे ही गांधी जी का विवाह उन सदाचारिणी देवी से हो गया जो आज तक उनके प्रत्येक कार्य में उसी प्रकार सहयोग करती हैं जिस प्रकार सीता जी रामचन्द्र जी के साथ करती थीं।

मैंट्रिक्युलेशन पास करने के पश्चात् महात्मा जी कालेज में प्रविष्ट हुए। उसी समय उनका साथ एक ऐसे पुरुष से हुआ जो नए ही नए विलायत से बैरिस्टरी पास करके आए थे। उन्होंने गांधी जी को भी विलायत जाने और बैरिस्टरी पास करने की अनुमति दी। गांधी जी की इच्छा पूर्व से ही विदेशयात्रा की थी, अब तो और भी प्रबल हो उठी। भाइयों से आज्ञा मांगने पर उन्होंने सहर्ष इन्हे विलायत जाने की आज्ञा देदी और कहा कि यदि तुम्हें विलायत भेजने के लिए पैतृक सम्पत्ति बल्कि घर के ज़ेवर तक बेचने पड़ें तो हम तयार है तुम विलायत जाकर पढ़ आओ। भाई तो सहमत थे पर धर्मशीला माता उन्हें किसी प्रकार बाहर भेजने को राजी न थीं यह भी सोचती थीं कि विदेश यात्रा से रहन-सहन खान-पान का विचार छूट जाने से मनुष्य-धर्म भ्रष्ट हो जाता है। परन्तु दिन-रात के गांधी जी के समझाने से अन्त में वे राजी हो गई और बोलीं तीन प्रतिज्ञाएं करो—१ मांस न खाऊँगा, २—मद्य न पिऊँगा, ३—पर स्त्री-गमन की इच्छा भी न करूँगा। महात्मा गांधी ने आज्ञानुसार तीनों बातो की दृढ़ प्रतिज्ञा की और विलायत के लिए तयार हुए।

लन्दन पहुंचने पर जब महात्मा जी वहाँ के होटल में ठहरे

तो एक दम बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वहाँ के सब थे। उनके भिन्न भिन्न पहनाव, वेश-भूषा भिन्न भिन्न रहन-सहन देख कर वें बहुत घबड़ाए। वहाॅ के लोग इन्हें देख २ कर हँसते थे और विवेक-रहित समझते थे। बहुत दुखित होकर गांधी जी ने एक अपने मित्र को जो लन्दन में ही रहते थे, तार देकर बुलाया। वे पश्चिमीय सभ्यता में रंगे, अप-टू-डेट फेशन के पूरे जैंटिलमैन थे। उन्होंने आकर गांधी जी को भी उसी रंग में रंगना चाहा। मांस खाना, मद्य पीना, नाच रंग, स्त्रियों से विशेष प्रेम झेल मेल वहाँ की सभ्यता की निशानी है प्रत्येक सभ्य मनुष्य मे जिनका होना परमावश्यक है। महात्मा जी प्रतिज्ञा-बद्ध थे दूसरे ये बातें उन्हे सुहाती भी न थीं इस लिए और बातों में तो न फॅसे पर गाना बजाना और नाचना सीखना चाहा। कुछ विशेष रुचि तो थी नहीं, विदेशी गाने वे समझ भी न पाते थे अतः इस कला मे भी सफल न हुए। हाँ, जैंटिलमैन बनने का शौक़ अभी उन्हें न छूटा था।

एक बार एक मित्र के साथ एक अंगरेज़ के यहाँ गांधी जी दावत में गए। वहाॅ भोजन मे शोरबा परसा गया। गांधी जी ने नौकर से धीरे से पूछा—'यह शोरबा मांस का तो नहीं है? मित्र महाशय यह सुनकर बड़े बिगड़े। बोले—तुम बड़े असभ्य हो सभ्य समाज मे बैठने लायक़ नहीं हो। महात्मा जी ने कहा—मैं तो सिर्फ जानना चाहता हूँ कि यह मांस का शोरबा तो नहीं है। क्योंकि मैं मांस न खाने की प्रतिज्ञा कर चुका हूं। मित्र बोले—तो यहाॅ से चले जाओ। गांधी जी फौरन उठ कर चल दिए और उसी दिन से जैंटिलमैन बनने की इच्छा त्याग दी। साथ ही नाचने गाने न जाने का भी खातमा हुआ। अपना सादा जीवन बिताने लगे। लन्दन ऐसे बड़े नगर में सिर्फ ६०) मासिक अपना

खर्च रक्खा और अपना तमाम समय विद्याभ्यास में लगाया। वैरिस्टरी का शिक्षा प्राप्त करने लगे। अतिरिक्त समय भी अन्यान्य पुस्तकों के पठन में ही वीतने लगा। दूसरे लोग जब आकर उनसे हिन्दू-समाज विपयक बातें पूछते तो सन्तोष-जनक उत्तर न दे सकने के कारण उन्हे बड़ी लज्जा मालूम होती। अतएव उन्होने हिन्दू-धर्म के ग्रन्थों का पढ़ना आरम्भ किया। गीता का विशेप रूप से अध्ययन किया। इससे न केवल उन्हे धर्म-विषयक शान्ति प्राप्त हुई वल्कि उनका जीवन ही सुधर गया। गीता ने तो उन्हें अमरता का पाठ पढ़ा दिया।

तीन वर्ष विलायत मे रह कर और वैरिस्टरी पास करके महात्मा जी स्वदेश को लौटे। पिता जी का देहान्त तो वचपन मे ही हो चुका था। इस समय माता जी भी गुजर चुकी थीं। पर पढ़ने मे विघ्न होने के भय से गांधी जी को कोई सूचना न दी गई थी। वम्वई में उनके भाई जव उन्हे लेने आए और माता की मृत्यु का दुखद समाचार सुनाया तो निस्सन्देह मातृ-भक्त गांधी को दारुण दुःख हुआ। किसी प्रकार धैर्य धारण कर राज कोट जहाँ उनके भाई थे आए और वैरिस्टरी करने लगे। डेढ़ वर्ष तक कभी राजकोट कभी वम्वई में वैरिस्टरी करते रहे।

पोर वन्दर में किसी महाजन की एक कोठी थी जिसकी एक शाखा दक्षिण अफ्रीका मे थी। एक वार एक वड़े मुकद्दमे में, जिसमें वहाँ एक वर्ष लगना था, महाजन को एक वैरिस्टर भेजने की आवश्यकता हुई। उसने महात्मा जी के भाई से महात्मा जी को भेजने की प्रार्थना की। महात्मा जी के सामने जव यह प्रस्ताव आया तो उन्होने स्वीकार कर लिया और दक्षिण अफ्रीका चल दिए।

वहाँ पहुँचने पर जव कोर्ट में वैरिस्टरी करने की दरख्वास्त

दी तो ला-सोसाइटी वालों ने बड़ा विरोध किया कि काले आदमियों को यहाँ बैरिस्टरी करने की आज्ञा न मिलनी चाहिए यद्यपि महात्मा जी की दरखास्त मंजूर हो गई, बैरिस्टरी करने लगे पर उन्हें बड़े दुख के साथ अनुभव हुआ कि बृटिश राज्य में भी सब को समान अधिकार प्राप्त नहीं है। एक स्वदेशाभिमानी के लिए यह बात खटकने वाली थी। यही नहीं और भी कई घटनाएं बराबर ऐसी हुई जिस से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि दक्षिण-अफ्रीका के भारतीयों की दशा बड़ी अपमानजनक और दयनीय है। यहाँ परिवर्त्तन और आन्दोलन की आवश्यकता है।

एक बार टिकट होने पर भी फर्स्ट क्लास की रेलगाड़ी से एक योरोपियन द्वारा उनका सामान फेंक दिया गया और वे ठोकर मार कर उतार दिए गए। इसी प्रकार एक बार एक घोड़ा गाड़ी पर से घूँसे मार के उतार दिए गए। और भी कई घटनाएँ ऐसी हुई जिनसे दूसरा आदमी घबड़ाकर अवश्य स्वदेश को भाग खड़ा होता या शान्त होकर गुलामी का जीवन बिताता। पर स्वदेशाभिमानी, शान्त प्रकृति गांधी घबड़ाना तो जानते ही न थे। कायरता छू न गई थी। उन्होंने प्रबल आन्दोलन कर भारतीयों के कष्ट दूर करने का निश्चय किया और प्रयत्न मे जुट गए।

दक्षिण अफ्रीका में जिस समय कारोबार बढ़ने से सस्ते मजदूरों की आवश्यकता हुई तो वहाँ के गोरों ने भारत पर शनि दृष्टि फेंकी। वे भारतीयों का हित तो चाहते नही थे। हाँ, अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। इस लिए भारत सरकार से आज्ञा प्राप्त कर यहाँ से बहका २ कर लालच देकर आदमियों को ले जाने लगे। उनसे चलते समय कहा जाता था कि तुम्हे वहाँ कोई कष्ट न होगा, सुख से रहोगे, भरपूर मजदूरी मिलेगी, सब प्रकार की सुविधाएं होंगी। हाँ, पाँच वर्ष काम करने की गारंटी लिख

देनी होगी इत्यादि २। जब वहाँ लोग पहुंचते तो उन्हें गौराङ्गों का क्रीत दास हो जाना पड़ता था और अनेक यातनाएं भोगनी पड़ती थी। किसी से शिकायत न कर सकते थे। जब पाँच वर्ष समाप्त होजाते तो किसी तरह स्वदेश लौट आने पर बहुतेरे निर्धनता वस वहीं रह कर कोई स्वतंत्र व्यवसाय करने लगे। इसी प्रकार कुछ लोग वहां बस गए। कुछ व्यापारी डाक्टर आदि भी पहुंच गए और भारतीय थोड़े में अपना निर्वाह करते हुए अधिक परिश्रम के साथ पैसा पैदा करने लग गए। यह बात वहां वालों को कब सह्य हो सकती थी। एक तो वैसे ही भारतीयो को वे असभ्य समझते थे फिर नहीं चाहते थे कि हमारे काम निकल जाने के बाद भी वे यहां रहे और स्वतंत्र व्यवसाय कर के हम से भी अधिक धनी हो जायँ। अब तो उन लोगों ने बड़े २ अत्याचार शुरू कर दिए। भारतीयों के लिए बड़े २ क़ानून बनवाए गए। जगह २ पर गोरे काले का भेद देखा जाने लगा। प्रत्येक भारतीय पर ४५) रु० सालाना सिर्फ वहां रहने का कर बांध दिया गया। एक घर मे जितने पुरुष, स्त्री, बच्चे होते थे प्रत्येक को ४५) रु० साल देना पड़ता था। इस प्रकार पाशविक अत्याचारों से बड़ी घबड़ाहट पैदा हो गई।

महात्मा गांधी को एक वर्ष हो चुका था। उनका वह मुकदमा भी जिसके लिए वे आये थे समाप्त हो चुका था। अतः स्वदेश लौटने को तयार थे कि उन्होंने पत्रो में पढ़ा कि यहां कौंसिल में और भी अनेक ऐसे बिल पास होने जारहे हैं जिस से भारतीयों का एक प्रकार से सर्वनाश हो जायगा। उन्होने विरोध करना शुरू किया। एक सभा स्थापित की। लोग दुखित तो थे ही उनकी आवाज सुनते ही शरण में आगये। बोले आप यहां से न जावें। यहीं बैरिस्टरी करें और भारतीयों का कष्ट दूर करें। महात्मा गांधी

उस समय युवक थे। थोड़े समय में स्वदेश में ही पर्याप्त धन और ख्याति प्राप्त कर सकते थे। पर वहां वालों को प्रार्थना पर भावी आशाओं को लात मार कर केवल देश भाइयों के कल्याण के लिए-ऐसे देश में जहां पग पग पर कठिनाइयों के अपमान और आपत्तियों का सामना करना पड़े केवल दुख-निवारण और उन्नति के लिए त्याग-वृत्ति ग्रहण की। अपनी महत्ता का एक अपूर्व आदर्श उपस्थित किया। भारत आकर अपने स्त्री बच्चों को भी ले गए। और घोर आन्दोलन मचा दिया। किस प्रकार आपत्तियों का सामना करके अल्प अशिक्षित और गरीब भारतीयों को साथ लेकर असंख्य शक्तिशाली महाप्रभुओं से सामना किया और विजय प्राप्त की इसका विस्तृत हाल लिखने लगें तो अलग एक मोटी पोथी बन जावे। अस्तु संक्षेप में यही कहना है कि वहाँ प्रबल सत्याग्रह करके महा प्रभुओं में बिकट स्थिति पैदा करके वह विजय प्राप्त की जो संसार के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। दो बार स्वतः भी जेल गए। वहां भाँति भाँति के कष्ट दिये गये। परिश्रम करवाया गया। हाथों से खून निकलता था, बेंतो की मार पड़ती थी पर एक महात्मा गांधी ही था जो कि न खुद ही धैर्य धरता था बल्कि दूसरों में भी सहन-शक्ति और साहस भरता था। दक्षिण अफ्रीका की सरकार से करारा युद्ध करके अन्त में पूरी विजय प्राप्त की और वहां के निवासी भारतीयो के दुख का सदा के लिए अन्त कर दिया। गोखले जी की अनुमति के अनुसार जिन्हे महात्मा जी ने अपना राजनैतिक गुरु माना है लगभग एक वर्ष तक भारत में भ्रमण किया और कुछ एकान्त वास के विचार से साबरमती आश्रम (अहमदाबाद) में 'सत्याग्रह' आश्रम खोल कर कुछ विद्यार्थियो के साथ रहने लगे। इन विद्यार्थियों को प्राचीन ऋषि महात्माओं के ढंग पर शिक्षा दी जाती है

और स्वावलम्बन तथा सेवा-भाव भरे जाते हैं। सत्याग्रह आश्रम में अविवाहित लड़के रहते हैं। उन्हे चर्खा कातना, खेती करना और छोटे से छोटे कार्य तक अपने ही हाथ से करने पड़ते हैं। भोजन अत्यन्त सादा, विना मसालों का खाना पड़ता है, कभी २ कच्चे पक्के फल ही खाने पड़ते हैं। अब महात्मा जी ने सत्याग्रह आश्रम का नाम बदल कर ' उद्योग भवन रख दिया है। बहुमत की रुचि अनुसार गृहस्थ भी अब उसमे प्रविष्ट हो सकते हैं। भोजनादि में मसाले आदि न पड़ने का भी नियम तोड़ दिया है।

इसी एक विजय से महात्मा गांधी की कीर्ति-दुन्दुभी संसार में बज गई। जिस समय भारत को लौटे तो अभूत पूर्व स्वागत हुआ। बम्बई की एक बड़ी सभा में उन्हे सोने चाँदी का हार दिया गया। उन्होंने फिर अपने अपूर्व त्याग का परिचय देते हुए कहा— आप लोगो ने मुझे हार तो पहना दिया है, पर मैं गरीब आदमी इसको रक्खूगा कहाँ ? मेरे पास तो जगह नहीं। कृपया आप इसे ले और किसी अच्छे कार्य में लगा दें ; यह कह कर हार उतार कर रख दिया।

सन् १९१६ की लखनऊ कांग्रेस के बाद महात्मा जी ने विहार का दौरा किया—इसी समय विहार के चम्पारन जिले मे उन्हें निलहे गोरों द्वारा सताए गए भारतीय मजदूरों की दर्दनाक कहानी सुनने को मिली। करुण हृदय पसीज उठा। चम्पारन पहुंचे और गोरों को अन्तिम नोटिस दे दिया कि अब तुम्हारे अत्याचार न होने पावेंगे। घोर आन्दोलन हुआ, गोरों और महात्मा में ठन गई पर अन्त में वही हुआ। गोरे हारे। महात्माजी को विजय हुई। कुलियो के दुख दूर हुए। चम्पारन में बच्चा २ महात्मा जी को अच्छी तरह जान गया। लोगों की उनमे अगाध श्रद्धा और भक्ति होगई।

इसके पश्चात् ही महात्मा जी की शान्ति भंग हो गई, एकान्त वास छूट गया। स्वराज आन्दोलन के क्षेत्र में उतर आए। खेड़े के स्मरणीय सत्याग्रह क आधार-स्तम्भ महात्मा जी ही थे। पर अब तक उन्होंने बृटिश और भारत सरकार के बिरुद्ध कोई कार्रवाई न की थी। पर योरोपीय युद्ध की विजय के एक मात्र कारण भारत को बचन देकर भी बृटिश सरकार ने कोई अधिकार न दिए। अगूठा दिखाते हुए उल्टे रौलट बिल का प्रहार किया। बिलों का मतलब था कि विद्रोहात्मक कागज़ पत्र रखनेवाला भी दण्ड का भागो हो सकता है। राजद्रोह-दण्डित के पास बैठनेवाला भी दण्ड पा सकता है। सजा पाए लोगा से जमानत मुचलका लिया जा सकता है, पुलिस की तैनाती की जा सकती है। सज़ायाफ़्ता कही आ जा न सकता है। सरकार द्वारा किए उसके निर्णय की कहीं अपील न हो सकती है, इत्यादि। इस बिल से भारत मे तहलका मचगया। समस्त नेता महात्मा जी से मिले। उन्होंने समस्त प्रयत्नो के बाद रौलट ऐक्ट रद्द करने का अन्तिम अस्त्र सत्याग्रह निकाला। अब तो जगह २ सत्याग्रह सभाएँ खुल, गई, खुलेआम सरकार का विरोध होने लगा। हड़तालें मनाई जाने लगी। सरकार ने भी आन्दोलन दबाने के लिए अमानुषिक व्यवहारों का प्रयोग किया। पंजाब में भीषण हत्याकाण्ड मच गया। सरकार ने मार्शल-ला बोल दिया। जनता दुखित, क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गई। देश में उच्छृङ्खलता पैदा हो गई। फाँसी आजन्म कालेपानी की सजाओं के समाचारो से पत्र भरे मिलने लगे। शान्तिप्रिय सत्याग्रही निरपराधियों से जेलें भरी जाने लगी। सरकार के भीषण अत्याचारों का दौर-दौरा मच गया। इधर सत्याग्रहियों ने भी सरकार से असहयोग किया। विद्यार्थी स्कूल कालेज छोड़ने लगे। वकील वकालत छोड़ने लगे। विदेशी माल का बायकाट

किया गया। विदेशी माल की दूकानों, शराब की दूकानों पर धरने दिए जाने लगे। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाने लगी। प्रजा को यह निश्चय हो गया कि पूर्ण स्वराज्य लेना चाहिये, अंगरेज़ सरकार को भारत से बिलकुल निकाल देना चाहिये। खुलेआम मौजूदा गवर्नमेंट की बुराइयाँ होने लगी। गांधी जी ने भारत के कोने २ में बिजली दौड़ा दी। उनकी आवाज़ पर देश क़ुर्बान होने को तयार हो गया। बड़े २ विलासियों ने विलासिता का लिवास उतार कर फेंक दिया और त्याग-वृति धारण कर स्वतंत्रता-यज्ञ में आकर सम्मिलित हुए। नौकरशाही का शासन डगमगा उठा। महात्मा जी के अद्भुत प्रभाव से हिन्दू मुसलमान सगे भाई मालूम होने लगे। सदियो का हृदयो का मैल धुल गया। एक विचित्र नया युग पैदा होगया जिसकी चर्चा भारत ही नहीं समस्त संसार में मच गई। देश के समस्त नेता एकटक होकर गान्धी जी के भृकुटि भङ्ग की प्रतीक्षा करने लगे। दुर्भाग्य से उसी समय युवराज प्रिन्स आफ वेल्स भारत आए। उनका समस्त भारत में ऐसा बायकाट हुआ जैसा शायद ही कभी किसी का हुआ हो। प्राय जहाँ २ युवराज पहुँचे काले झंडे तो निकाल ही गए। भंगियो ने सड़कों पर झाड़ू नहीं लगाई, स्टेशनों पर कुली नही मिले। रात में म्यूनिस्पिल्टी ने रोशनी बन्द करवा दी। जगह २ लिख दिया गया 'युवराज का स्वागत मत करो।' इसी विराट आन्दोलन मे जहाँ सत्याग्रह होने जा रहा था वहाँ दुर्भाग्य से दो एक दुर्घटनाओं ने देश को कुछ दिन के लिए स्वराज्य से फिर वंचित कर दिया। महात्मा जी की आज्ञा सविनय आज्ञा भंग करने की थी। मार-काट उत्पात आदि वे बिलकुल न होने देना चाहते थे ताकि सरकार को किसी प्रकार की शिकायत का मौक़ा न मिले। पर कुछ जल्दबाजों और अविवेकियों ने जोश में आकर महात्मा जी की इच्छा के विरुद्ध

लड़ाई दंगा कर डाला। चौराचौरी में रक्त-पात हो गया। बस महात्मा जी का दिल खिन्न हो गया और कुछ काल के लिए सत्याग्रह स्थगित हो गया। महात्मा जी को भी जेल हो गई। इस प्रकार यह भीषण आन्दोलन कुछ काल के लिए दब अवश्य गया परन्तु प्रत्येक भारतीय के हृदय से इस नौकरशाही का भय सदैव के लिए दूर हो गया। और नौकरशाही ने भी जान लिया कि अब हम भारत पर रोब से भय दिखला कर अधिक दिन शासन नहीं कर सकते।

महात्मा जी कुछ समय के पश्चात् जेल से मुक्त हो गये। तब से उन्होंने एक मात्र खादी को भारत के स्वराज्य का मुख्य साधन बतला कर उसी के प्रचार मे अपने जीवन को लगा दिया है। आज भी उनका वही ध्येय है, वही लक्ष्य है और वही उपदेश है। वे खादी के पीछे दीवाने हैं, मस्त हैं और देश के सच्चे योगी, संन्यासी तथा संसार के महापुरुषो मे एक हैं।

महात्मा जी हिन्दू हैं पर किसी धर्म से उनका द्वेष नहीं। मनुष्य-मात्र से समान प्रेम है, उनका हृदय पर दुःख से दुःखी और दया से पूर्ण है। संसार के ईसाई, मुसलमान, पारसी, जैन, बौद्ध सभी उन्हे सिर झुकाते हैं और वर्त्तमान समय का संसार का सर्व श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं। कितने ही अङ्गरेज उनके शिष्य हैं। एक प्रसिद्ध धनी पाश्चात्य कप्तान की कन्या मिस स्लेड आजकल उनकी शिष्या है जो खद्दर पहनती, चर्खा कातती और महात्मा जी की सेवा मे रहती हैं। भिन्न २ देशो के स्त्री पुरुष प्रायः केवल महात्मा जी के दर्शनों को आया करते हैं। महात्मा जी के सिद्धान्त दृढ़ हैं। अपने सिद्धान्तों के मानने मे वे संसार की पर्वाह नहीं करते। अभी हाल ही की एक घटना है कि डाक्टर वैद्यों के जवाब दे देने से एक मृत-प्राय तड़पते हुए बछड़े को

ज़हर देकर मरवा दिया। इस पर तमाम भारत में बड़ा आन्दोलन मचा। पर महात्मा जी का कहना है—"मैं उसके कष्ट को बर्दाश्त न कर सका इसी से दुःख से मुक्त कर दिया। मैं इसे हिंसा नहीं मानता। यदि लोकमत के अनुसार मैंने उसे उसके कर्मों का फल नही भोगने दिया जो अवश्य भोग्य था, तो उस फल को भोगने के लिए मै सहर्ष तयार हूँ। यदि दूसरो का कष्ट दूर कर उसका फल मैं भोग सकूँ तो मुझे बड़ी ख़ुशी है; इसमें कोई चिन्ता नही।" फिर भी सत्य बात को तुरन्त ग्रहण करते हैं। मनुष्य मात्र के हित के लिए वे तुच्छ से तुच्छ कार्य करने को सहर्ष तयार रहते हैं। छुआछूत वे जानते ही नही कि क्या चीज़ है। कठिन से कठिन परिश्रम करने को हर समय तयार रहते हैं और करते है। भंगी, चमार, धोबी, किसान आदि से भी वे काम लेना पसन्द नही करते। उनके कामों को जहाँ तक होता है खुद करते है और दूसरो के लिए भंगी, चमार, आदि का कार्य करने को तयार रहत हैं। सैकड़ो जगह आपने कार्यों द्वारा अपने इन विचारो का सबूत दिया है।

श्रीमती गांधी के विषय मे इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वे इन सभी कार्यों मे महात्मा जी के बराबर साथ रही हैं।

महात्मा गांधी के सदृश कर्मनिष्ठ और तपस्वी इस समय संसार मे दूसरा नहीं है। बहुत से विद्वान् ईसाई उन्हे ईसा, हिन्दू कृष्ण का अवतार, बोलशेविक लोग लेनिन और सर्व साधारण संसार का सर्व-श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं। महात्मा जी ने कितने ही वार उपवास किए हैं। देशहित कार्यों में दूसरों के कृत्यों से जब २ उन्हे कष्ट होता है तो उनके प्रति रोष न प्रकट कर ख़ुद ही उपवास आदि कर महात्मा जी ने वर्षों नमक खाना छोड़ा है। वर्षों केवल फल ही खाए हैं। वर्षों अपनी ख़ुराक केवल

=)॥ प्रति दिन रक्खी है। अब भी उनका खर्च ५-६) रु० महीने से अधिक नहीं होता। वस्त्रों में केवल खद्दर का अंगोछा, चादर, और कोपीन के अतिरिक्त कुछ नही रहता। इतने पर भी कार्य शील इतने हैं कि जमीन खोदना, मीलों पैदल चले जाना उनके प्रति-दिन के कार्य हैं।

महात्मा जी मन, वचन, कर्म से अहिंसा-वादी हैं पर उनका कहना है—"कि प्राणी मात्र से प्रेम करो, किसी शरीर की कभी बुराई तक न चाहो पर किसी के अन्याय को कभी बर्दाश्त न करो उसका स्पष्ट विरोध करो, सत्याग्रह में सदैव अपने प्राणों की बाजी लगाए रहो।"

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व कितना बढ़ा चढ़ा है इसके विषय में ससार के कुछ प्रसिद्ध पुरुषों की राय देना अनुचित न होगा। गोपाल कृष्ण गोखले का कहना था—"निस्सन्देह महात्मा गांधी उन्हीं तत्त्वों से बने हैं जिन तत्त्वों से बड़े २ बहादुर और शहीद बनते हैं बल्कि वे अपने विलक्षण आत्म-बल से साधारण पुरुषों को भी बहादुर व शहीद बना देते हैं।"

मद्रास के लार्ड बिशप ने कहा था—"मि० गांधी ईसा मसीह के कही अधिक सच्चे प्रतिनिधि है।"

सर फीरोजशाह मेहता का कहना था—"हम भारतवासियों में जब तक गांधी सरीखे महापुरुष हैं तब तक हम लोगो को देश के विषय में निराश न होना चाहिये।"

मि० एच्० एस्० एल्० पोलक का कहना था—"कदाचित इस पीढ़ी में ऐसा महापुरुष कोई पैदा न हुआ होगा जिसमें गांधी जी के समान सच्चे साधु महात्मा, देशहितैषी और राज-नीतिज्ञ तीनों के गुण विद्यमान हों।" मि० जी० ए० नेटसन का

कहना है—"मनुष्यत्त्व का यही सर्व-श्रेष्ठ आदर्श है, जिस पर महात्मा गांधी पहुँचे हैं।"

सर हेनरी काटन का कहना था—"आज हम लोग अफ्रीका से ऐसे महापुरुष को विदाई दे रहे हैं जिन्होंने कठिन परिश्रम और स्वार्थ त्याग करके प्रत्येक पुरुप के हृदय में अधिक आदर प्राप्त किया है।"

पार्लियामेट के सदस्य भारत के सहायक मंत्री मि० चार्ल्स रावर्ट ने कहा था—"महात्मा गांधी ने जो कार्य किया है इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।"

श्रीमती ओलिव श्रेनर ने कहा था—मैं गांधी जी को योग्य नेता और स्वार्थ-त्यागी ही नहीं समझती वल्कि वर्त्तमान युग का सब से वड़ा आचार्य और गुरू समझती हूँ।"

स्व० लोकमान्य तिलक का कहना था—"महात्मा गांधी के चरित्र से जो शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती हैं उनमें एक यह भी है कि ईश्वर पर भरोसा करके मनुष्य को निष्काम वुद्धि से अपने कर्त्तव्य पालन में लग जाना चाहिए। संकटों को तृणवत् समझना चाहिए।"

विलायत के मजदूर-दल के प्रतिनिधि मि० वेनसी ने एक वार कहा था—"महात्मा गांधी ऐसे पुरुष हैं जिनमे उनके शत्रु भी कोई दोप नहीं निकाल सकते।"

न्यूयार्क लिरिक थियेटर में पादरी जे० एच्० होम्स ने एक वार कहा था—"महात्मा गाधी ही संसार के सव से वड़े आदमी है।"

भारत मंत्री मि० माण्टेग्यू ने कहा है—"महात्मा गांधी का महत्व और प्रतिष्ठा सर्वाधिक है, उद्देश अति महान और चरित्र निर्मल है। देश-सेवा मे उनके निःस्वार्थ-त्याग की तुलना नहीं है।"

काउण्ट ल्यू टाल्स्टाय ने कहा था—"वर्त्तमान काल में एक

मात्र गांधी ही ईश्वर के सामने प्रतिनिधि हैं। मैं उनका नाम-करण 'गांधी' के स्थान पर 'दीनबन्धु' करता हूँ।"

पार्लियामेंट की सभ्या केनिन ने कहा है—"महात्मा गांधी सचमुच एक युगावतारिक महापुरुष हैं।"

सिनेटर डब्ल्यू स्कीनर ने कहा था—"उनके जैसा परार्थ-परायण और मधुर-चरित्र व्यक्ति अंगरेजों में भी देखनें में नहीं आया। मुझे उनके मित्र होने का गौरव मिला इससे मेरा जीवन धन्य है।"

पण्डित मोतीलाल नेहरू का कथन है—"देश भर पागल है। इस पागलपन को दूर करने वाले एकमात्र चिकित्सक महात्मा गांधी हैं।"

देशवासियों के लिये महात्मा जी का हृदय कैसा है—एक पुरुष दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह मे गोली से मारे गए थे। महात्माजी विधवा से मिलने गए। विधवा रो रही थी। महात्मा जी को देखते ही वह उनके पैरों पर गिर पड़ी। महात्मा जी ने मुश्किल से उसे उठाया और एकटक उसकी ओर देखने लगे। उन्हे प्रत्यक्ष दीन, हीन, दुखी भारत-माता का स्वरूप देख पड़ा। उन्होंने उस विधवा से कहा—"माता! चुप रहो, रोओ मत। तुम्हारा रोना मुझ से नही सहा जाता। तुम्हारा पति अत्याचारियों के हाथ से मारा गया है, देश के लिए मारा गया वह ईश्वर की गोद में बैठा है। अमर हो गया है। मैं भी अपना सिर भारत-माता को चढ़ा चुका हूँ। यदि मेरा भी सिर धड़ से अलग कर दिया जावे और मेरी स्त्री विधवा बना दी जावे तो मुझे बड़ी शान्ति मिलेगी। मैं प्रसन्न होऊँगा कि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। माता, दुखित न हो, मैं अपना सिर तुम्हारी गोद में देता हूँ, तुम्हारे वैधव्य का अपराधी मैं हूँ मुझे क्षमा करो और बल दो।"

अफ्रीका में ही सरकारी कागज़ पर दस्तख़तों के बजाय अँगूठे का निशान लगाने से बहुत से पठान महात्मा जी के दुश्मन हो गए और उन्हें इतना मारा कि वे मृतप्राय हो गए। इसके बाद भी वे लोग महात्मा जी को जान से मारने की ताक में रहने लगे। यह देख कर एक जर्मन इंजीनियर जो महात्मा जी का भक्त था एक तमंचा महात्मा जी की रक्षा के लिए हर समय साथ रखने लगा। और महात्मा जी जहाँ जाते, वहाँ उनके पीछे परछाईं की तरह रहने लगा। महात्मा जी को सन्देह हुआ। एक दिन उन्होंने जो उसकी जेब में हाथ डाला तो तमंचा निकला। महात्मा जी ने पूछा—" टाल्सटाय के शिष्य होकर तुम्हारे पास यह तमंचा क्यों ? उसने कहा—" कभी २ ज़रूरत आ पड़ती है " महात्मा जी—" भला इसकी क्या ज़रूरत आ पड़ती है ? " उसने कहा—" दुष्ट लोग आपके मारने की तलाश में रहते हैं। " महात्मा जी—" मेरी रक्षा की ज़िम्मेवारी तुम्हीं ने ले रक्खी है ! तुम इस तमंचे से मेरी रक्षा करोगे, अच्छा लो मैं इसी से अपने टुकड़े टुकड़े किये देता हूँ। तुम्हारा मुझ पर सच्चा स्नेह नहीं है वर्ना तुम इस नश्वर शरीर की रक्षा न करते। मेरे अमरत्त्व की तुम्हें अभिलाषा होती। यह तमंचा रखना बड़े शरम की बात है। " उस दिन से उसने समझा कि महात्मा जी कितने महान् व्यक्ति हैं। पठानों का विरोध भी शान्त हो गया।

महात्मा जी ने नमक इस प्रकार छोड़ा—एक बार उनकी स्त्री बहुत समय से बीमार थीं। महात्मा जी ने विचारा कि नमक इन्हें हानि करता है, बोले—" तुम नमक छोड़ दो तो शायद अच्छा हो " उन्होंने कहा—" वाह नमक कैसे छोड़ा जा सकता है, सब चीज़ें छूट जायँ पर नमक नहीं छूट सकता है ? " महात्मा जी—" छोड़ दो तो क्या होगा ? " उन्होंने कहा—

" आप ही ज़रा छोड़ दें देखें फिर क्या होता है ? " महात्मा जी ने कहा—" अच्छा "। उस दिन से महात्मा जी ने नमक छोड़ ही दिया और क़रीब १५-१६ वर्ष नहीं खाया।

एक बार महात्मा जी ने अपने विद्यार्थियों को किसी काम के करने का निषेध किया पर लड़कों ने चुरा कर वही काम किया। महात्मा जी को किसी तरह मालूम हो गया, उन्होंने पूछा तो लड़के चुप हो रहे। सबने झूठ छिपाना चाहा। महात्मा जी ने अपने गाल पर ३-४ थप्पड़ ज़ोर से लगाए, बोले—" अवश्य मुझ में ही कोई दोष है, तभी तुम लोग सत्य बात मुझ से छिपाते हो "। लड़कों ने क्षमा माँगी और सच्च २ कह दिया।

स्व० लोकमान्य तिलक को हिन्दी से प्रेम न था, न उनकी युक्तियों के आगे कोई उनसे हिन्दी के लिये कहने की हिम्मत करता था। कलकत्ते की एक बड़ी सभा मे देश के बड़े २ नेता मौजूद थे। लोकमान्य तिलक का अंगरेज़ी में व्याख्यान हो चुका था। महात्मा जी उठे और श्रोताओं से बोले—" आप लोगों में जिस जिसने लोकमान्य का व्याख्यान समझा हो हाथ उठावें। " अंगरेज़ी समझने वाले अल्पसंख्यक श्रोताओं ने हाथ उठा दिया। महात्मा जी ने कहा—" अब वे लोग हाथ उठावें जिन्होंने व्याख्यान नहीं समझ पाया "। तब तो बहुत हाथ उठ गए।

महात्मा जी ने लोकमान्य की ओर हाथ जोड़ कर कहा—" इसीलिए हिन्दी पढ़ने की आवश्यक्ता है। यदि लोकमान्य जी आज हिन्दी में बोले होते तो हमारे अधिक भाई आपके व्याख्यान समझने से वंचित न रह जाते। अंगरेज़ को समझाने के लिए हमें अपनी मातृ-भाषा छोड़ कर अंगरेज़ी पढ़ने की आवश्यकता नहीं। यदि उसे हमारी बात समझने की ग़रज़ होगी, तो वह

ख़ुद हिन्दी पढ़ेगा या दुभाषिया रक्खेगा। लोकमान्य जी पर उनकी बात का इतना असर पड़ा कि उन्होंने उसी समय प्रतिज्ञा की कि " मैं दो महीने में पहले हिन्दी सीख लूँगा।" इसके बाद लोकमान्य ने हिन्दी सीखी।

एक बार एक लड़के ने जान-बूझ कर कोई अपराध किया। महात्मा जी को इससे दुःख हुआ उन्होंने कहा—" इसके प्रायश्चित्त मे मैं कल से १५ दिन का उपवास करूँगा।" सब लोग घबड़ा गए। इसलिए और भी कि श्रीमती गांधी उस समय अधिक बीमार और कमज़ोर थी; इस समाचार से उनकी क्या दशा होगी? यही विचार सबको और भी बेचैन किए था। महात्मा जी से जब लोगो ने प्रार्थना की कि वे उपवास न करें और यदि न मानें तो कुछ ससय ठहर कर करें। महात्मा जी ने कहा—" यह ठीक है कि कस्तूरी बाई को मेरे उपवास से कष्ट होगा। संभव है प्राणान्त भी हो जावे। पर मैं सच्चाई और दृढ़ निश्चय से क्यों डरूँ? आप लोग उन्हे ही क्यों न समझा दें कि वे चित्त में किसी प्रकार का विचार न करें।" दूसरे दिन से उपवास किया।

महात्मा जी मद्य-मांस आदि का कभी सेवन न करते थे। उससे बड़ी घृणा करते थे। बचपन मे एक बार दुष्ट साथियो के संसर्ग में पड़ कर घर वालों से छिपा कर मांस खाना प्रारम्भ किया। पर चित्त में बहुत सकुचाने लगे। भोजन न करने पर घर वाले पूछते तो बहाना करना पड़ता था। परन्तु १०-५ दिन में ही आत्मा में उन के इतनी ग्लानि पैदा हुई कि उन्होंने मित्रो का साथ छोड़ना उचित समझा पर इस प्रकार मा बाप से छिपा कर बुरा काम करना उचित न समझा। बस दुष्ट साथियों के संग के

साथ २ हमेशा के लिए मद्य-मांस भी छोड़ दिया। विलायत में आपकी इस प्रतिज्ञा को उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ निबाहा।

महात्मा जी अपना जीवन-चरित्र 'सत्त्य के प्रयोग' अथवा 'आत्म-कथा' के नाम से लिख रहे हैं जिसका अधिक अंश पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। महात्मा जी का पवित्र चरित्र संसार के लिए अनुकरणीय है। धन्य है भारत-भूमि और भारतवर्ष जहाँ ऐसा पुरुष उत्पन्न हुआ। यदि महात्मा जी किसी अन्य देश में उत्पन्न हुए होते तो न मालूम उन की पूजा किस भॉति होती और कितने उच्च पुरुष माने जाते। महात्मा गांधी से न केवल उन्हीं का गौरव हुआ है बल्कि उनसे भारत को गौरव प्राप्त हुआ है। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह ऐसे महापुरुष को चिरायु करे।

जगमगाते हीरे

कविसम्राट् श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर

१६—कवि-सम्राट श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर

कोई २ पुरुषरत्न ऐसे होते हैं जिनसे न केवल उनका ही गौरव होता है बल्कि उस जाति और देश का भी गौरव होता है जिसमें वे उत्पन्न होते हैं।

संसार-प्रसिद्ध कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐसे ही महा पुरुषो में हैं। भारतवर्ष को ऐसे सुपुत्र से गर्व है। उन्होंने संसार को दिखला दिया है कि गए-बीते समय में भी भारत में गुदड़ी के लाल पड़े हुए हैं। दुनियाँ के इने-गिने महापुरुषो मे कवीन्द्र रवीन्द्र की भी गणना है।

श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म सन् १८६० ई० मे बंगाल प्रान्त के एक स्थान पर क्षत्रिय कुल मे हुआ था। उनके पिता का नाम था श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर। टैगोर घराना अभी से नही बहुत समय से विद्या, बुद्धि, धन सम्पत्ति और ईश्वर-भक्ति मे बहुत बढ़ा-चढ़ा और प्रसिद्ध रहा है। उनके पितामह श्री द्वारिकानाथ टैगोर बड़े सम्पत्तिशाली और विद्वान पुरुष थे। श्री द्वारिकानाथ जी के पुत्र श्री देवेन्द्रनाथ भी जिनके सुपुत्र हमारे चरित-नायक हैं—एक महापुरुष ही हुए हैं। वे तो महर्षि देवेन्द्र के नाम से प्रख्यात थे। पूर्ण ईश्वर-भक्त, अपूर्व दानी, परम विद्वान और महात्मा पुरुष थे। लाखों रुपया दान करते थे। हिचकिचाहट तक न पैदा होती थी। स्वतः कष्ट उठा कर भी दूसरों को दान करना महर्षि देवेन्द्रनाथ सदृश पुरुषों का ही कार्य था। सौभाग्य से वे ही गुण कवीन्द्र रवीन्द्र में भी विद्यमान् हैं।

श्री रवीन्द्रनाथ अपने छै भाइयों में सब से छोटे हैं। उनके बड़े भाई भी सब बड़े विद्वान हैं।

रवीन्द्रनाथ जी जब छोटे थे तभी उनकी माता का शरीरान्त हो गया था। मातृ-सुख उनके भाग्य में बदा न था इसीसे उससे बंचित कर दिए गए, पर पिताजी ने बड़ी देख-रेख के साथ पुत्र रवीन्द्र का लालन-पालन किया।

उनकी रखवाली के लिये हर समय एक मनुष्य उनके साथ रहता। पढ़ने के अतिरिक्त वे घर से बाहर न जाने पाते थे। बाहर निकलने तक मे दो आदमी उनके साथ रहते थे।

रवीन्द्रनाथ जी जब स्कूल मे पढ़ने भेजे गए तो उन्होंने वहाँ देखा कि यहाँ तो विचित्र दशा है। छोटे २ बालक जरा २ से अपराध पर डंडों से पीटे जाते हैं। यदि कही पाठ न याद हुआ तो फिर कहना ही क्या मास्टर साहब पर भूत ही सवार हो जाता है और बुरी तरह लड़के पर टूटते हैं। दिन रात नौकरों के बीच में लाड़ प्यार से रहने वाले, हरे भरे वृक्षों की छाँह में घूमने वाले सुकुमार बालक रवीन्द्रनाथ को ये दृश्य देख कर बहुत दुःख होता था। पढ़ने मे उनका मन न लगता था पर डर के मारे पढ़ने नित्य जाते थे। जाने में कभी नागा न करते थे। स्कूल मे जब सब लड़के पाठ याद किया करते थे तो रवीन्द्र बाबू बैठे २ अपने हृदय मे तरह २ की बातें सोचा करते थे। वे विचारा करते थे कि इस वसुन्धरा का ऊपरी भाग तो हम लोग देख रहे हैं। इसके भीतर न मालूम इसका क्या आकार प्रकार होगा, क्या रूप-रङ्ग और रङ्ग-ढङ्ग होगा। जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, पृथ्वी का अन्त दिखलाई ही नहीं पड़ता। अखीर अन्त तो कही होगा ही। कैसे इस पृथ्वी की तह पाई जाय; यदि एक पर एक बाँस गाड़ते चले जाँय तो शायद अवश्य इसकी तह मिल जायगी इत्यादि।

पढ़ने के समय तथा घर में वे प्राय: इसी प्रकार की बातें सोचा करते थे। साल के अन्त में जब परीक्षा हुई तो रवीन्द्र बाबू को अपनी श्रेणी मे प्रथम नम्बर आया। साथी तो आश्चर्य में पड़ ही गए, अध्यापको को भी कम विस्मय न हुआ। उनकी दुबारा परीक्षा ली गई पर 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' फिर प्रथम नम्बर आए। अब सिवाय दाँतो तले उँगली दबाने के अध्यापक और कर ही क्या सकते थे।

पाठक समझेंगे कि जब रवीन्द्र बाबू बिलकुल ही न पढ़ते थे तो प्रथम किस प्रकार आते थे? यह बात नहीं कि वे बिलकुल ही न पढ़ते थे। घर पर प्रत्येक कार्य के लिए समय नियत था। उसी के अनुसार सब काम करते थे। घर पर उनके पढ़ने लिखने का पूरा ध्यान रक्खा जाता था। प्रात:काल उठ कर शौचादि से निवृत्त होकर एक पहलवान से कुश्ती लड़ना पड़ता था फिर उसी दशा में पढ़े हुए विषयो (गणित, इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि) का अभ्यास करना पड़ता था। भोजन के बाद स्कूल जाते वहाँ से लौट कर खेलते कूदते, फिर ड्राइङ्ग खींचते। इसके पश्चात् रात्रि मे अंगरेज़ी पढ़ कर सो जाते थे। यह उनका नित्य का नियम था। प्रत्येक रविवार को उन्हे गाना बजाना सिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त नित्य ही उनके यहाँ बड़े २ विद्वानों और शिष्ट व्यक्तियो का जमघट रहा करता था जिससे उनकी योग्यता की उन्नति में उनसे बहुत सहायता मिलती थी। बिना पढ़े ही बहुत सा ज्ञान उन्हे सत्सङ्ग द्वारा ही प्राप्त होता था।

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि रवीन्द्र बाबू का मन पढ़ने मे बहुत कम लगता था क्योंकि उनका हृदय तो विशाल था, भावनाएँ उच्च थीं। उन्हे कोई नौकरी तो करनी नहीं थी उन्हें तो संसार के हृदयो पर अपने दूसरे ही पाण्डित्य का सिक्का जमाना

था। वे तो अहर्निश प्रकृति का पाठ पढ़ते थे। छायादार सघन वृक्षों की हरियाली, वृक्षो में लगे हुए पक्षियों के घोसले, नदी की लहराती हुई लहरें उनके हृदय को मोहित कर लेती थी। संध्या समय जब बगीचे में इधर-उधर रङ्ग बिरङ्गे पुष्पों से अठखेलियाँ करते हुए शाम हो जाती, अस्त-प्राय: सुनहली किरणो से न केवल नीलाकाश ही सुनहला हो जाता बल्कि वृक्ष, लताएँ, पुष्प, तमाम बगीचा, अपना शरीर तक सुनहला प्रतीत होता तो रवीन्द्र बाबू का हृदय खिल उठता था। हृदय मे भी भाँति २ की सुनहली हिलोरें उठने लगतीं थी। सुनहली किरणों से जब फूल पत्ते चमकने लगते, उनकी शोभा दूनी हो जाती, तो हमारे चरित-नायक आश्चर्य और मोद से भरे इधर उधर देखने लगते। प्रकृति देवी की निराली छटा ऊनके हृदय मे बैठ कर उसे निर्मल और सरस बना देती थी।

बचपन से ही रवि बाबू का हृदय कवि-हृदय हो चला था। उसी समय से वे कविताएँ करने लगे थे। थोड़ा पढ़ने के पश्चात् ही स्कूल कालेज की पढ़ाई समाप्त कर दी। उपाधि-लिप्सा को नमस्कार कर लिया। घर पर रह कर ही अध्ययन करने लगे। काव्य-ग्रन्थों का विशेष रूप से रसास्वादन किया।

रवि बाबू के कविता के आदि गुरु उनके भाञ्जे हैं। उन्होंने उन्हे कविता करना बतलाया। उससे पहले रवि बाबू कविता करना बहुत कठिन समझते थे। धीरे २ जब उन्हे कविता का चस्का लगा तो जो कविता वे बनाते वह अपने सब साथी संगियों को अवश्य सुनाते। लोग अच्छी न होने के कारण न सुनना चाहते तो रवि बाबू शान्त न हो जाते थे, जबरन सुनाते थे। लोग हँसते थे तो उसकी पर्वाह न करते थे। पहले तो लोग ऊबते थे

पर पीछे २ कविता भी बहुत अच्छी होने लगी और सुनने वाले भी चाव से सुनने लगे।

जब वे छोटे ही थे और कविता करने लगे थे तो एक बार बहुत दिनों में उनके पिता बाहर से घूम कर घर आए और उनसे बोले—"क्यो, हिमालय पर्वत पर घूमने चलोगे?" रवि बाबू ने कहा—"हाँ, जरूर चलूँगा।" कुछ दिन रवि बाबू पहाड़ पर जाकर रहे। वहाँ निडर होकर जङ्गलों में घूमा करते थे और प्राकृतिक शोभा का आनन्द लते थे। साथ ही कविता का अभ्यास भी उत्तरोत्तर प्रौढ़ता पा रहा था।

अब तो रवि बाबू स्वाभाविक-प्रवृति, अध्ययन और अभि-रुचि के कारण बहुत अच्छी कविता करने लगे। उनकी कविताओं का चारों ओर आदर होने लगा। कविता को 'गीता-ञ्जलि" नामक एक अद्वितीय पुस्तक लिखी जिसकी टक्कर की उत्कृष्ट कविता आज तक देखने में नहीं आई। उक्त पुस्तक पर रवि बाबू को १९२४ ई० मे संसार प्रसिद्ध सवा लाख रुपये का नोवेल पुरस्कार मिला। जिससे उनकी विमल कीर्ति संसार में फैल गई और संसार उन्हे वर्त्तमान दुनिया का सर्व-श्रेष्ठ कवि, कवि-सम्राट् मानने लगा।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने गोरा, नौका डूबी, डाकघर आँख की किरकिरी, घर बाहर, प्राचीन साहित्य आदि और भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं जो साहित्य-जगत् में चाव से सम्मानित की गई है। पर एक गीताञ्जलि ने ही रवि बाबू को अमर कर दिया है। उनकी कविताएँ ओजस्विनी, मर्मस्पर्शिणी, हृदयग्राही, और चित्त को हिला देने वाली होती हैं। उनमें उच्च भावनाएँ होती हैं। अनुपम कल्पनाएँ होती है। उनमे प्राकृतिक सौन्दर्य और नैसर्गिक छटा छहरती हुई दिखलाई देती है। पाठक उनकी कविताओं को

पढ़ते हुए तन्मय हो जाते हैं। उनकी लेखनी में जबर्दस्त प्रभाव है। एक २ लाइन के एक २ शब्द में बल होता है, जीवन होता है और कवित्त्व होता हैं।

योरोप का कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ निमंत्रित होकर कवि-सम्राट रवीन्द्र नाथ कई २ बार न गए हों और जहाँ अपूर्व स्वागत और सम्मान न पाया हो। नित्य ही वह भ्रमण करते रहते हैं। जहाँ जाते हैं अपार नर नारियों की भीड़ होती है। लोग एक टक होकर घंटो उनके तेज-पूर्ण सुंदर मुख को देखा करते हैं। उनके मुख से ही ऋषियो के पूर्व गौरव की आभा टपकती हुई सी ज्ञात होती है। उनमें विचित्र आकर्षण शक्ति है। एक २ शब्द उनका जादू का काम करता है। भारत के नर-रत्नों में योरोप में सब से अधिक आदर पाने वाले महापुरुष टैगोर ही हैं। बड़े २ सम्राट् रवि बाबू का आदर करने में अपना गौरव समझते है।

रविबाबू विश्वप्रेमी हैं। संसार के समस्त प्राणियों से उन्हें प्रेम है। किसी प्रकार का भेदभाव उनके हृदय में स्थान ही नहीं पाता।

कवीन्द्र रवीन्द्र प्राचीन सभ्यता के पूरे उपासक और उसके पूरे समर्थक हैं। वे उसी को अपना आदर्श मानते और उसी को उपदेश करते है। प्राचीन ग्रन्थों से उन्हे बड़ा अनुराग है। उनकी प्राचीन साहित्य नामक पुस्तक इस विषय में पढ़ने लायक है। कविवर रवीन्द्र बाबू ने बङ्गाल के शान्ति निकेतन बोलपुर में "विश्व भारती" नामक एक आश्रम खोल रक्खा है जहाँ लड़को का प्राचीन ऋषि मुनियो की भाँति शिक्षा दी जाती है। अध्यापक लोग वहाँ कभी अपने हाथ मे मारने के लिए छड़ी डण्डा नही रखते। कोई लड़का कदाचित भारी से भारी अपराध करे फिर भी उसे पीटना क्या डाँटा तक नहीं जाता। प्यार और पुचकार से ही अध्यापक लड़

कों को सुधार लेते हैं। सच्ची बात यह है कि मास्टरों के व्यवहार का लड़कों पर ऐसा असर पड़ता है कि लड़के स्वतः कोई बुराई नहीं करते।

आश्रम का स्थान शहर से दूर एक ऊँची ज़मीन पर है। रवि बाबू के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ वहीं पर पूजन आदि किया करते थे और अधिक रहते थे इसी लिए रविबाबू ने भी उस स्थान को बहुत पसन्द किया। आश्रम से चारो ओर की ज़मीन ढालू है। आश्रम से चारों ओर नदी, वृक्ष, पहाड़, बाग़, नगर, ग्राम आदि प्राकृतिक दृश्य सब साफ दिखलाई पड़ते है। प्रकृति का पाठ पढ़ने के लिए विद्यार्थियों को कहीं जाना नहीं पड़ता। वहीं बैठ २ सब दृश्य दिन रात ऑखों के सामने रहते हैं। रवीन्द्र बाबू का विचार है कि यदि ये वस्तुऍ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होती रहे ते पढ़ने का मज़ा ही क्या है।

यहॉ पढ़ाई विशाल भवनों मे नहीं होती बल्कि वृक्षो के नीचे खुले मैदानों में होती है।

लड़के, लड़कियाँ, बालक, युवा, वृद्ध सभी के लिए विश्व भारती में शिक्षा का प्रबन्ध है। खाने पीने, खेलने कूदने, कला कौशल सीखने आदि सब का उत्तम प्रबन्ध है।

यहाँ के विद्यार्थी कालेजों की उच्च परीक्षाऍ भी दे सकते हैं। देश विदेशों के आए हुए प्रसिद्ध विषयों के ज्ञाता प्रोफेसर अध्ययन कार्य करते हैं।

चित्रकला और संगीत का विशेष प्रबन्ध है। पुस्तकालय तो यहाँ का इतना बड़ा है कि हिन्दुस्तान में शायद इतना बड़ा पुस्तकालय न होगा। सभी भाषाओं की पुस्तकें मौजूद हैं।

यहाँ एक बात बहुत बड़ी है वह यह कि यहाँ के निवासियों

में प्रेम और सेवा का भाव आदर्श-रूप में विद्यमान है। अड़ोस पड़ोस के गाँवों मे जाकर लोगों की सेवा करना, मुसीबत में साथ देना, आगत अतिथियों का स्वागत और सेवा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। देश-विदेश के प्रसिद्ध २ पुरुष प्रायः इस पवित्र आश्रम के दर्शनार्थ आते रहते हैं। विश्वभारती से तात्पर्य ही "समस्त संसार को एक प्रेम-सूत्र मे गूंथना" है। रवि बाबू के इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति सचमुच इस आश्रम से हो रही है।

कविवर रवीन्द्र नाथ जी में अद्भुत आकर्षण शक्ति है। कोई भी एक वार उनसे मिलकर ही प्रभावान्वित हो जाता है।

देश-भक्त साधु एण्ड्रयूज रवि बाबू के अनन्य भक्त हैं। एक बार मि० एण्ड्रयूज बहुत सख्त बीमार हो गए। मि० एण्ड्रयूज का कहना है कि "मुझे उस समय इतना कष्ट था कि मैं अपनी मृत्यु मना रहा था, पर गुरुदेव (रवि बाबू) के आ जाने से ही मुझे एक विचित्र शान्ति प्राप्त हुई और मैं अच्छा हो गया।"

रवि बाबू को योरोप के भिन्न २ देशों से प्रायः निमंत्रण आते रहते हैं। रवि बाबू जहाँ २ जाते हैं, उनका अपूर्व स्वागत होता है।

आज जिन महापुरुष रवीन्द्र नाथ ने कई बार योरोप घूम डाला और जिनका आदर करते हुए प्रत्येक पुरुष अपना गौरव समझता है। वही जब छोटे थे और कई नौकर हर समय उनके साथ रहते थे तो एक नौकर उन्हे बहुत तङ्ग किया करता था। वह खड़िया या कोयले का एक घेरा बना देता था और रवि बाबू को उसी मे बैठाल देता था। फिर कहता था—"बस, चुपचाप इसी घेरे के भीतर बैठे रहना कहीं जाना मत। अगर जरा भी निकले तो ठीक न होगा" बेचारे रवि बाबू चुपचाप उसी घेरे में रहते थे।

जब घर से बाहर निकलने का कोई उपाय न देखते थे तो निराश होकर अपने घर के कमरे की एक खिड़की में सिकचे पकड़ कर बैठ जाते थे और बाहर की ओर देखा करते थे। खिड़की के पास ही एक तालाब था जिस पर प्रायः स्नान करने वालों की भीड़ रहा करती थी। रवि बाबू उसी भीड़ के दृश्य और उठती हुई पानी की हिलोरें देख २ कर बहुत प्रसन्न होते थे।

आज संसार में कवि-सम्राट् रवीन्द्र नाथ का जो सम्मान है उससे भारतवर्ष को गर्व है। परमात्मा उन्हे चिरायु करे।

१७—डाक्टर सर जगदीश चन्द्र बोस

जिन दिव्य आत्माओं ने प्रकृति पर विजय पाकर संसार मे शक्ति के रहस्य को अधिकाधिक रूप से व्यक्त किया है, जिन पुरुषों ने वैज्ञानिक अद्भुत आविष्कारों से संसार को आश्चर्यान्वित किया है मानव-ज्ञान के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। सौभाग्य से प्रत्येक विषय के अद्वितीय पुरुष को जन्म देने का अधिकार भारतवर्ष को प्राप्त है। हम इन पृष्ठों में जिस महापुरुष का जीवन-चरित लिख रहे हैं वे प्रतिभाशालो संसार मे अमर-कीर्ति कमाने वाले, अद्वितीय वैज्ञानिक, डाक्टर जगदीश चन्द बोस हैं।

सन् १८५८ ई० में ढाका ज़िले के विक्रमपुर नामक ग्राम में डाक्टर बसु का जन्म हुआ। बसु के पिता श्री भगवान चन्द बसु एक उच्च-खानदान के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उन्होंने प्रारम्भ से ही अपने होनहार पुत्र की प्रवृत्ति में यथेष्ट ध्यान दिया। ऐसे २ मौक़े दिऐ जिनसे उनके वैज्ञानिक प्रवृति का उत्तरोत्तर विकाश होता जाय। बड़ी योग्यता के साथ उन्होंने पुत्र बसु का लालन-पालन किया। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा कि पुत्र के संस्कार अच्छे हों और भविष्य मे वह भारत का एक उज्ज्वल तारा हो। कितने ही माँ-बाप लापरवाही या अनेक अन्य कारणों से बच्चों की स्वाभाविक मानसिक प्रवृत्ति को नहीं जान पाते, जो जान भी पाते हैं वे उसे योग्य या उचित मार्ग पर नहीं

विज्ञानाचार्य्य सर जगदीशचन्द्र बोस

लगाते। इससे बड़ी खराबी होती है। तबीयत और लगन के विरुद्ध बच्चे को किसी काम में लगाने से उसकी प्रतिभा-शक्ति विकसित होने के बजाय मुरझा जाती है और वह भविष्य में एक महान व्यक्ति होने के बजाय साधारण पुरुष ही रह जाता है। बसु के पिता में यह बात न थी। वे बसु की मानसिक प्रवृत्ति की ओर पूरा ध्यान रखते थे और जिधर बालक बसु की लगन होती थी उसमे सहायता देते थे।

बसु महोदय प्रारम्भ मे अंगरेज़ी स्कूल में न भेजे जाकर देहाती स्कूल में भेजे गये। इसके विषय मे उनका कथन है कि "मेरे पिता के विचार शिक्षा-सम्बन्ध में, उस समय निश्चित हो चुके थे। यद्यपि उनके मातहतों ने अपने पुत्रो को इस इच्छा से अंगरेज़ी स्कूलों में भेजा कि वे आगे चलकर बड़े सभ्य और महान पुरुष हों; पर मैं देहाती स्कूल में भेजा गया जहाँ खेतिहर और मछुओ के लड़कों के साथ पढ़ना और खेलना पड़ता था। वे लड़के मुझे भयंकर बनैले जानवरो की, जो जङ्गल मे घूमा करते हैं और उन जानवरो की जो बड़ी २ नदियों तथा तालाबों के अगाध जल मे गहरे डूब जाते हैं, बातें सुनाया करते थे। ये बातें मुझे बहुत पसन्द आती थीं। मैंने उन साथी लड़को से प्रकृति का प्रेम पाया। सच्चे मनुष्यत्व का पाठ पढ़ा"।

पाठक सोच सकते हैं कि बसु के पिता का निश्चय कितना उत्तम था और वे कितने दूरदर्शी थे। अपनी माता की सहायता के विषय में डाक्टर बसु कहते हैं—एक बार जब मैं अपने देहाती साथियो के साथ घर आया तो मुझे मालूम हुआ कि मेरी माता, बड़ी उत्सुकता के साथ हम लोगो की बाट जोह रही हैं। वह कट्टर और पुराने ख्यालातों की हिन्दू थीं। पर मेरे अछूत साथियों का भी उन्होंने हार्दिक प्रेम-भाव से स्वागत किया और अपने

पुत्र की तरह खिलाया पिलाया। वास्तव में माता ने उस दिन मुझे मनुष्य-प्रेम का पाठ पढ़ा दिया।

ग्रामीण शिक्षा के बाद वसु महोदय उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए कलकत्ते आए और वहाँ सेंट झेवियर कालेज से ग्रेजुएट हुए। ग्रेजुएट होने के बाद उनकी प्रवल इच्छा हुई कि मैं इङ्गलैंड जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा पास करूं और किसी अच्छे अधिकार पर अधिष्ठित होऊं। पिता जी से उन्होंने प्रार्थना की। उनके पिता जी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पूर्व ही जान चुके थे कि जगदीश शासन-क्षेत्र मे उपयुक्त नही। ईश्वर ने इसकी रचना दूसरे ही क्षेत्र के लिए की है। इसी से इन्होने इंगलैंड भेजने से बिलकुल इन्कार कर दिया। डा० वसु ने कई वार उनसे आग्रह किया पर नाही के अतिरिक्त कोई उत्तर न मिला। डा० वसु खुद लिखते हैं—

"मैं पूज्य पिता जी के सामने जब जब सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए जाने की प्रार्थना करता था तव तव वे मुझे साफ इन्कार कर देते थे। धीरे २ मुझे यह मालूम होने लगा कि मेरा जन्म दूसरे पर शासन करने के लिए नहीं वल्कि अपने आप पर ही शासन करने के लिए हुआ है। मैं शासक होने के लिए वनाया ही नही गया हूं"। अन्त में पिता जी ने इंगलैंड भेजा भी तो वैज्ञानिक अध्ययन के लिए न कि सिविल सर्विस परीक्षा के लिए।

डा० वसु विलायत गए और वहाँ से विज्ञान में बी. ए-बी. एस, सी. होकर कलकत्ते वापस आगए। कलकत्ते आने पर उन्हें कालेज में भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर की जगह मिली। कालेज में डा० वसु को सन्तोष न हुआ क्योंकि यहाँ वैज्ञानिक खोज के उपयुक्त साधन न थे। वे लिखते है, "जब मैं पहले पहल यहाँ

आया तो कालेज के उपयुक्त कोई प्रयोग-शाला न थी, मुझे अपनी ही प्रयोग शाला मे कार्य करना पड़ता था। दश वर्ष के बाद एक छोटी सी प्रयोगशाला की व्यवस्था की गई।"

प्रोफेसरी के साथ २ वसु महोदय ने प्रसिद्ध २ पत्रों में वैज्ञानिक लेख लिखना भी शुरू कर दिया और एकाग्रचित्त से विज्ञान-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए। सारी मनोवृत्तियों को इधर उधर से खींच कर एक ही लक्ष्य पर केन्द्रीभूत कर दिया। वे कहते है कि चित्त की वृत्तियो को केन्द्रीभूत करने से, एक ही विषय की ओर लगाने से जैसे आध्यात्मिक सफलता प्राप्त होती है उसी प्रकार वैज्ञानिक सफलता प्राप्त होती है। विना चित्त-वृत्तियों को एकाग्र किए विज्ञान में कभी सफलता प्राप्त करना दुर्लभ है।"

"हमे अपने मन का एकाग्र रखना चाहिए। जो कार्य किया जाय उसमें एक भाव हो जाना चाहिए। वात पहले मन में आती है तव की जाती है। अतएव कोई काम करने के लिए मन की शान्ति और स्थिरता की वड़ी ज़रूरत है।"

"वैज्ञानिक जीवन वड़े कष्ट का है। मृत्यु तो हमारे सिर पर सदा ही सवार रहती है। ज़रा चूके कि झट धर दवाया। देखिए न! हवाई जहाज़ का आविष्कर्त्ता ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा में ही अपनी जान से हाथ धो वैठा।"

डा० वसु के जैसे उद्गार हैं ठीक वैसा ही जीवन है। एक मात्र 'खोज' ही उन्हो ने अपने जीवन का लक्ष्य वना लिया है। वड़ी २ कठिनाइयाँ सामने आईं पर उन्होंने उनकी ज़रा भी परवाह न कर वीरता से सामना किया। वे अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए विघ्नो की वात ही क्या मृत्यु तक की परवाह नहीं करते।

सर वसु ने अपने आश्चर्य-कारक अविष्कारों से संसार को अचंभे में डाल दिया। उन्होंने विज्ञान में जो मार्के की वृद्धि की उसके लिए जनता ने उनका हृदय से अभिनन्दन किया। लन्दन विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ साइन्स' को उपाधि देकर उनका गौरव बढ़ाया।

संसार मे वेतार के तार का प्रचालित होना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और आश्चर्यकारक वात है। इस चमत्कार पूर्ण अविष्कार में संसार के तीन महान विज्ञान-वेत्ता प्रवृत्त हुए थे जिनमें एक हमारे चरितनायक भी हैं। यह पहला अवसर था जव एक अद्भुत रहस्य का पता लगाने के लिए संसार के तीन विज्ञान-वेत्ता स्वतंत्ररूप से खोज करने मे जुटे हुए थे। वे डा० जगदीशचन्द्र वोस हैं जिन्होंने सब से पूर्व इस महान कार्य मे सफलता प्राप्त की और कलकत्ता मे इसका आश्चर्यकारक प्रयोग कर दिखाया। सव चकित होकर रह गए।

इसके वाद डा० वोस संसार को अपना अनुभव वताने और संसार के अविष्कारो का रहस्य जानने के लिए योरोप अमेरीका के भ्रमण को निकले। आक्सफोर्ड में उन्हे व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया।

व्याख्यान मे वड़े २ विज्ञानवेत्ता वुलाए गए। व्याख्यान भवन खचाखच भर गया था। वड़े वड़े दिग्गज विज्ञानाचार्य सुशोभित थे। डा० वोस का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। सव की आश्चर्य-भरी दृष्टि एक ओर खिंच गई। उस समय कमरा चारों ओर की करतल ध्वनि और जयजयकार के शव्दों से गूँज उठा। जव हमारे आचार्य ने एक यन्त्र द्वारा श्रोताओं के समक्ष एक पौधे से अपने आन्तरिक जीवन का हाल खुद कहलवाया और दिखलाया कि पौधो मे हृदय की स्पन्दन और रोधक गति होती है।

इस आश्चर्य-कारक दृश्य से बोस के कट्टर विरोधी भी समर्थक बन गए। डाही भी मित्र बन गए।

एक ही व्याख्यान से डा० वसु की कीर्ति पताका चारों ओर फहराने लगी। योरोप के भिन्न २ प्रसिद्ध स्थानों से आमंत्रण पत्र आने लगे। योरोप के लोग उनके व्याख्यान सुनने और अद्भुत प्रयोग देखने के लिए लालायित हो उठे।

ग्रेटवृटेन की संसार-प्रसिद्ध रायल इन्स्टीट्यूशन में आमंत्रित करने पर डा० वसु को तीन बार व्याख्यान के लिए जाना पड़ा, यह इन्स्टीट्यूशन योरोप में अद्वितीय समझी जाती है। वहाँ के पहले ही व्याख्यान से डा० वसु के विषय में कोई " पूरब के जादू-गर " कोई " कलकत्ते का वसु जो खोज कर रहा है वह ऐसा मनुष्य है कि दूसरों के करने के लिए कुछ बाकी नहीं छोड़ता" आदि तरह २ की बातें कहने लगे। एक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा— "वैज्ञानिक संसार डा० वसु की गवेषणाओं के लिए बहुत ही ऋणी है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे व्याख्यानों में भी वसु महोदय को पहले व्याख्यान से भी अधिक कीर्ति मिली। लोग उनके अद्भुत प्रयोगों को देख कर दातों तले उँगली दबाने लगे।

उनकी वैज्ञानिक गवेषणाओं और उनके क्रान्तिकारक आवि-ष्कारो ने आधुनिक संसार के विचारो में बड़ी हलचल पैदा कर दी है। उन्होंने बिलकुल स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि अन्य जीवधारियों की तरह पौधों में भी जीव हैं। उनमे भी सुख-दुख अनुभव करने की शक्ति मौजूद हैं। उन पर भी गर्मी सर्दी का अन्य जीवधारियों की तरह असर पड़ता है। ज़हरीली औषधियों और बिजली आदि का पूरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं डा० बोस ने सिद्ध कर दिया कि संसार में द्रव्य एक ही है वे ही भिन्न २ रूपों से सजीव, निर्जीव नाम से पुकारे जाते हैं।

डा० जगदीशचन्द्र बोस ने जिन यंत्रों द्वारा इतने अद्भुत और आश्चर्यकारक अविष्कार किये हैं। उन यंत्रों के स्रष्टा भी आप ही हैं। उनके बनाने मे डा० साहब ने कमाल किया है। यंत्रों की मृदुता और सूक्ष्मता देख कर आश्चर्य होता है। पौधों और धातुओं में होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म हलचल भी इन यंत्रों से पता लग जाती है। प्रतिक्षण के उनके घटने बढ़ने का परिणाम मालूम होता है। फिर यह देखिए कि इस प्रकार के यंत्रों के बनाने के लिए योरोपियन कारीगरों के पास जो साधन होते हैं। वे डा० वसु के पास नहीं थे। उनकी उत्कृष्ट अभिलाषा ने ही ये अद्भुत चमत्कार करवाए है।

भाँति २ के यंत्र तयार करा कर डा० वसु ने वनस्पति विज्ञान का जैसा अनुशीलन किया है इस समय शायद ही किसी ने किया हो। उन्होंने बिलकुल सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य को ही भाँति तमाम गतियाँ वनस्पतियों मे भी होती हैं। उनको भी मृत्यु के समय बहुत कष्ट होता है। जब कोई पत्ता आग मे डाला जाता है। तब वह पहले सिकुड़ने लगता है फिर जल जाता है। यह सिकुड़ना क्या है ? वनस्पति की मृत्युवेदना का चिन्ह है। वसु के आविष्कारो ने वर्त्तमान संसार में नया प्रकाश फैला दिया है। उन्होंने जीवन के उन गूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन किया है जिनसे आधुनिक संसार बिलकुल अपरिचित था। उन्होंने वह प्रयोग प्रत्यक्ष कर दिखलाए हैं जिनके विषय में विना प्रत्यक्ष अनुभव के विश्वास ही नहीं हो सकता था। डाक्टर वसु का कहना है कि "इन अविष्कारों से शरीर-विज्ञान, औषधि-विज्ञान और कृषि ज्ञान में भविष्य में क्रान्तिकारक परिवर्तन होंगे, तब इन आविष्कारों का महत्त्व भली भाँति प्रकट होगा"।

योरोप अमेरिका के अद्वितीय सम्मान को ही देख कर भारत

सरकार ने डा० बोस को सम्मानित किया है और सी० आई० ई०, सी० एस० आई की उपाधियो से विभूषित किया है। यही नहीं, सर की उपाधि भी आप को इसी सम्मान मे प्राप्त हुई है।

सुप्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता डा० प्रफुल्लचन्द राय का डा० वसु के विषय मे कहना है कि "डा० वसु केवल वैज्ञानिक सत्य के आविष्कारक ही नहीं, किन्तु नवयुग-प्रवर्त्तक है। वे एक महान पुरुष और निःस्वार्थ विज्ञान-वेत्ता है।"

योरोप मे जितने नए अविष्कार होते हैं वे सब पेटेंट करा लिए जाते हैं। उन पर सब का समान अधिकार नहीं रहता। परन्तु सर्व-हितैषी त्याग-मूर्ति डा० वसु ने इसमें अपूर्व त्याग दिखलाया है। उन्होने अपना कोई आविष्कार पेटेंट नहीं करवाया। नहीं तो प्रो० पी० सी० राय के शब्दो में "वसु महोदय सचमुच आज कितने ही करोड़ रुपयें के स्वामी हो गए होते। बेतार के तार के अविष्कार में डा० वसु का महत्व समझ कर ग्रेट ब्रेटन और अमेरिका की सरकार ने आप को अपने आविष्कारो के रजिस्टर्ड करने का अधिकार दिया था पर वसु महोदय ने अपने लाभ के लिए उनको उपयोग में लाना उचित न समझा, स्पष्ट उत्तर दिया कि ऐसा करना मेरे पूर्वजों की नीति और धर्म के विरुद्ध है। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्र ने भी इस विषय में लिखा है कि "यह वात उल्लेखनीय है कि डा० वसु ने अपने यंत्र-निर्माण की कोई क्रिया गुप्त नहीं रक्खी है, सारे संसार के लिए खुली हुई है। संसार के अर्थ-उपार्जन करने के लिए मि० बोस ने यह महान त्याग किया है।"

संसार के भिन्न २ देशों मे भ्रमण करके और अपनी कीर्ति पताका चतुर्दिश फहराकर के सर जगदीशचन्द्र बोस ने वास्तव में

भारत माता के मुख के उज्ज्वल किया है। भारत माता को इस बात का गर्व है कि वैज्ञानिक संसार का एक अद्वितोय पुरुष आज भी उसकी गोद में खेल रहा है। माता की गौरव-रक्षा के लिए ही बोस ने अपने को कहीं वेंचा नहीं। नही तो आज भी योरोप का प्रत्येक विश्व-विद्यालय हाथ पसारे आप को भेंटने के लिए तैयार है। बोस महोदय को प्रारम्भ से ही इस बात का विचार रहा है कि यह भारतवर्ष किसी समय विद्या और ज्ञान का केन्द्र समझा जाता था। देश देशान्तरो के हज़ारों विद्यार्थी हमेशा अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए यहां आया करते थे। यहां के ऐसे वड़े विश्व-विद्यालय संसार के किसी भाग में न थे, न अब तक हैं। भारतवर्ष ने अपनी श्रेष्ठता संसार को विना प्रतिफल की इच्छा के खुले हाथो लुटाई है और इसी में उसने अपना गौरव समझा है। संसार को निस्पृह ज्ञान दान देना ही भारत की शिक्षा दीक्षा का आदर्श रहा है। सारे संसार का एक 'गुरु' कहलाने का गौरव यदि किसी को प्राप्त है तो वह भारत वर्ष ही है। परन्तु समय के हेर फेर और अविद्या अन्धकार के फैलने से आज इसकी यह गति हो गई है। ऐसी गिरी दशा मे भी जो हमारे पास है उसको विशेष रूप से भारत में ही स्थान क्यों न दें। क्यों न उसके विषय मे संसार की दृष्टि भारतवर्ष की ही ओर खींचे। इन्हीं सब बातों को विचार कर डाक्टर बसु ने एक विज्ञान-मंदिर स्थापित किया है जो सदैव उनकी महत्ता का वृहत स्मारक होगा। यह ठीक है कि प्रारम्भ से ही उसमें भाँति २ की कठिनाइयों का अनुभव हुआ। एक अच्छी प्रयोग-शाला के अभाव में वैज्ञानिकों को जिन असुविधाओं का सामान करना पड़ता है बसु महोदय को उन सबका सामना करना पड़ा। परन्तु आप किसी कार्य में हताश या विचलित होना तो जानते ही

नही। आप तो उन पुरुषो मे हैं जो विघ्नों को सफलता का कारण माना करते हैं। बराबर लेख लिखे। विश्वविद्यालयों का जो संचालक मिलता उसी से प्रश्न करते—"ज्ञान की किस शाखा का आपने विकाश किया है ? आप की सहायता से कौन २ आविष्कार और अन्वेषण हुए हैं ? क्या विश्व-विद्यालय हमेशा अन्य विश्वविद्यालयों के लिए केवल प्रोफेसर, विद्यार्थी और गुलाम बनाने की ही मशीन बने रहेंगे ? क्या आप के दिल में कभी यह बात नही पैदा होती कि आपके भारतीय विश्वविद्यालयों मे विदेशों से झुंड के झुंड विद्यार्थी यहां आवें और वह ज्ञान प्राप्त करें जो संसार मे अपूर्व हो ? क्या आप नालन्द और तक्षशिला के विश्व विद्यालयों को बिलकुल भूल गए। इत्यादि

डा० वसु की बातों का लोगो पर बहुत प्रभाव पड़ता है और लोग सहज ही मे इनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। आप को अपने प्रयत्न मे उत्तरोत्तर बहुत कुछ सफलता प्राप्त होती जा रही है। विज्ञान-मंदिर की स्थापना के समय डा० वसु ने अपने व्याख्यान में कहा था—"जब तक भारतवर्ष की तरफ से कुछ देन न दी जायगी तब तक संसार के ज्ञान की उन्नति अधूरी ही रहेगी। और इस बात को समझ लेने से भारत के भावी कार्यकर्त्ताओं मे एक दिव्य उत्साह उत्पन्न होगा। यहाँ जो विज्ञान-मंदिर स्थापित होगा वह बड़ी स्फूर्ति के साथ सत्य का पीछा करेगा। कोई सांसारिक लोभ उसे अपने पवित्र मार्ग से च्युत न कर सकेगा। यहाँ विज्ञान और धर्म मे कोई झगड़ा न होगा जैसा पाश्चात्य देशों में हो रहा है। अगर भारत ने वायु पर विजय प्राप्त की होती तो वह इसका प्रयोग तीर्थ यात्रा करने में करता।"

आज धीरे २ सर जगदीश चन्द्र की उपर्युक्त उत्कट अभिलाषा प्रयोग में लाई जा रही है। अवश्य एक दिन ऐसा आवेगा

जब संसार की एक टक दृष्टि विज्ञान-मंदिर पर होगी और विदेशों से हजारों विद्यार्थी उसकी ओर आप से आप खिंचे चले आवेंगे।

डा० बोस का स्वभाव बहुत ही मिलनसार और कोमल है रहन सहन यथा संभव सादी है। अभिमान तो पास पड़ोस भी नहीं फटकता। वैज्ञानिक आविष्कार में संसार के वैज्ञानिकों में डा० बसु सिर-मौर हो रहे हैं। जीवन के रहस्य का उद्‌घाटन करके उन्होंने हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों के सिद्धान्तो का प्रत्यक्ष पुष्टी करण किया है। बचपन से ही उनकी नस २ में भारत की महत्ता और वीरता समा गई है। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे चिरायु हो और उनकी अभिलाषा दिन दूनी रात चौगुनी फूलती फलती रहे जिससे भारत माता के गौरव को बढ़ावे।

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

के

अनमोल ग्रन्थ-रत्न

१—ईश्वरीय बोध

परमहंस स्वामी रामकृष्ण जी के उपदेश भारत में ही नहीं, तमाम संसार में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के उपदेशों का यह संग्रह है। श्रीरामकृष्ण जी ने ऐसे मनोरञ्जक और सरल, सब की समझ में आने लायक बातों में प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान कराया है कि कुछ कहते नहीं बनता। सचमुच मनुष्य ऐसी पुस्तक पढ़ कर अपने को बहुत उच्च बना लेता है। परिवर्द्धित संस्करण का मूल्य सिर्फ ।।।)

२—सफलता की कुंजी

अमेरिका, जापान आदि देशों मे वेदान्त का डंका पीटने वाले तथा भारतमाता का मुख उज्ज्वल करने वाले स्वामी रामतीर्थ को सभी जानते हैं। यह पुस्तक उन्हीं स्वामी जी के Secret of Success नामक अपूर्व निबन्ध का अनुवाद है यदि आप अपना जीवन सुखमय बनाना चाहते हैं और शांतिसरोवर में गोता लगाना चाहते हैं तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। मूल्य ।)

३—मनुष्य जीवन की उपयोगिता

मनुष्य जीवन किस प्रकार सुखमय बनाया जाता सकता है ? इसकी उत्तम से उत्तम रीति आप जानना चाहते हैं तो एक बार इसे पढ़ जाइये। कितने सरल उपायो से जीवन पूर्ण सुखमय हो जाता है,यह आपको इसी पुस्तक से मालूम होगा। यह मूल पुस्तक तिब्बत के प्राचीन पुस्तकालय में थी, जहां के एक चीनी ने इसका अनुवाद चीनी भाषा में किया फिर इसका योरुप की अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद हुए। आज दिन योरुप की प्रत्येक भाषा में इसके हज़ारों संस्करण हो चुके है नया अभी हाल ही में छपा है। डेढ़ सौ पेज की पुस्तक का मूल्य केवल ॥=)

४—भारत के दशरत्न

यह जीवनियों का संग्रह है। इसमे भीष्मपितामह, श्रीकृष्ण, पृथ्वीराज, महाराणा प्रतापसिंह, समर्थ रामदास, शिवाजी, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के जीवनचरित्र बड़ी खूबी के साथ लिखे गये हैं। मूल्य ।–)

५—ब्रह्मचर्य ही जीवन है

को पढ़ कर सच्चरित्र पुरुष तो सदैव के लिये वीर्य नाश से बचता ही हैं किन्तु पापात्मा भी निःसंशय पुण्यात्मा बन जाता है। व्यभिचारी भी ब्रह्मचारी बन जाता है। दुर्वल भी सिंह तथा दुरात्मा भी साधु हो जाता है। जो पुरुष अपने को औषधियों का दास बना कर भी जीवन-लाभ नहीं कर सका है, उसे इस पुस्तक मे बताये सरल नियमो का पालन कर अनन्त जीवन प्राप्त करना चाहिये। कोई भी ऐसा गृहस्थ या भारतपुत्र न होना चाहिये

जिसके पास ऐसी उपयोगी पुस्तक की एक प्रति न हो। थोड़े ही समय में इसके चार संस्करण हो चुके हैं। मूल्य ॥।)

६—वीर राजपूत

यह उपन्यास एक ऐतिहासिक घटना को लेकर बड़े मनोरंजक ढंग से लिखा गया है यदि राजपूताने के वीर राजपूतो के सच्चे पराक्रम और शूरवीरता की एक अपूर्व झलक आप को देखनी है, यदि आप यह जानना चाहते हैं कि एक सच्चा सदाचारी वीर पुरुष कैसे अपने उच्च जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है तो उपन्यास को एक बार अवश्य पढ़ जाइये। मूल्म १)

७—हम सौ वर्ष कैसे जीवें ?

भारतवर्ष मे औषधालयों और औषधियों की कमी नहीं, फिर भी यहां के मनुष्यो की आयु अन्य देशों की अपेक्षा सब से कम क्यों है ? औषधियो का विशेष प्रचार न होते हुये भी हमारे पूर्वजों की आयु सैकड़ो वर्ष की कैसे होती थी ? एक मात्र कारण यही है कि हमारे नित्य के खाने पीने, उठने बैठने के व्यवहारों मे बर्तने योग्य कुछ ऐसे नियम हैं जिन्हे हम भूल गये हैं "हम सौ वर्ष कैसे जीवें ?" को पढ़ कर उसके अनुसार चलने से मनुष्य सुखों का भोग करता हुआ १०० वर्ष तक जीवित रह सकता है। हिन्दी मे इस विषय की आज तक कोई भी ऐसी पुस्तक प्रकाशित नही हुई। मू० ॥।)

८—महात्मा टाल्स्टाय की वैज्ञानिक कहानियां

विज्ञान की शिक्षा देने वाली तथा अत्यन्त मनोरंजक पुस्तक। मूल्य ।)

९—वीरों की सच्ची कहानियां

यदि आपको अपने प्राचीन भारत के गौरव का ध्यान है, यदि आप वीर और बहादुर बनना चाहते हैं, तो इसे पढ़िये। इसमें अपने पुरुषाओं की सच्ची वीरता पूर्ण यश गाथायें पढ़ कर आपका हृदय फड़क उठेगा, नसों में वीर रस प्रवाहित होने लगेगा, पुरुषाओं के गौरव का रक्त उबलने लगेगा। स्कूल में बालकों को इतिहास पढ़ाने में अपने पुरुषाओ की वीरता पूर्ण घटनाएं नहीं पढ़ाई जातीं। विदेशी पुरुषो की प्रशंसा के ही पाठ पढ़ाये जाते हैं। आवश्यकता है देश का कोई बालक ऐसे समय इस पुस्तक को पढ़ने से न चूके। मूल्य केवल ।।।)

१०—आहुतियां

यह एक बिलकुल नये प्रकार की नयी पुस्तक है। देश और धर्म पर बलिदान होने वाले वीर किस प्रकार हँसते हँसते मृत्यु का आवाहन करते हैं ? उनकी आत्मायें क्यों इतनी प्रबल हो जाती हैं ? वे मर कर भी कैसे जोवन का पाठ पढ़ाते हैं ? इत्यादि दिल फड़काने वाली कहानियाँ पढ़नी हों तो "आहुतियाँ" आज ही मँगा लीजिये। मूल्य केवल ।।।)

११—जगमगाते हीरे

प्रस्तुत पुस्तक हाथ में है। मू० १)

१२—पढ़ो और हँसो

विषय जानने के लिये पुस्तक का नाम ही काफ़ी है। एक एक लाइन पढ़िये और लोट पोट होते जाइये। आप पुस्तक अलग

ने में पढ़ेंगे; पर दूसरे लोग समझेंगे कि आज किससे यह
हा हो रहा है। पुस्तक की तारीफ़ यह है कि पूरी मनोरंजक
हुए भी अश्लीलता का कहीं नाम नहीं। यदि शिक्षा-प्रद
ंजक पुस्तक पढ़नी है तो इसे पढ़िये। मूल्य केवल ।॥)

१३—कुसुम-कुञ्ज

कविवर गुरु भक्त सिंह 'भक्त' कृत कमनीय कविताओं का
है। ये कवितायें अपने ढंग की एक ही हैं। मूल्य ।=)

१४—चारुचिन्तामणि कोष

स पुस्तक में श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के सब ग्रन्थों से
भागों का संग्रह किया गया है जिनका सम्बन्ध श्री रामनाम
। संग्रहकर्ता राम के अनन्य भक्त श्री जयरामदास जी हैं।
क अपने ढंग की एक ही है। मूल्य ।—)

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

के

स्थायी ग्राहक बनने के नियम ।

(१) प्रत्येक सज्जन ॥) पेशगी जमा कर इस ग्रन्थमाला के ग्राहक बन सकते हैं । उन्हे प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक पर चौथाई कमीशन दिया जाता है ।

(२) पहिले की प्रकाशित पुस्तकों का लेना अथवा न लेना की इच्छा पर निर्भर है । परन्तु भविष्य में प्रकाशित वाली पुस्तकों का लेना आवश्यक होगा । यदि सूचना ही एक सप्ताह के अन्दर हमें सूचित कर देंगे तो वह न भेजी जायगी ।

(३) जो सज्जन सूचना पाके वी० पी० जाने पर उसे लौ उनका नाम स्थायी ग्राहकों की श्रेणी से काट दिया

हमारे यहां अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें भी मिल स हम अपने स्थायी ग्राहकों को अन्य प्रकाशकों की ५) या अधिक की पुस्तकों पर फी रुपया एक आना कमीशन देते वृहत् सूचीपत्र मंगाकर देखिये ।

मैनेजर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज